सर सय्यद ने हिंदू की जो परिभाषा की थी वह धर्मनिरपेक्ष थी । हिंदू शब्द उनके लिए 'भारतीय' अर्थात् 'हिंदुस्तानी' का पर्याय था । यदि वे उस परिभाषा को देश और समाज के आधार पर ही पूर्णतया मान लेते तो हिंदू-मुसलमान का भावी प्रश्न खड़ा ही न होता । किंतु सर सय्यद की कुछ अपनी भी मान्यताएं थीं जिनका संबंध भाषा, धर्म, राजनीति और स्वतंत्रता से था । प्रथम तो यह कि वे उर्दू को भारत की भाषा मानते थे । उनके मतानुसार हिंदू और मुसलमान दोनों के परस्पर संपर्क से उर्दू का जन्म हुआ था । अतः यह भाषा विशेषतया न हिंदुओं की थी न मुसलमानों की थी बल्कि सबकी भाषा थी । यदि सर सय्यद अपनी हिंदू की परिभाषा पर टिकते तो वे भारत की भाषा को हिंदवी या हिंदी भी कह सकते थे । हिंदवी का अर्थ हिंदुओं की भाषा अर्थात् हिंद में रहने वाले हिंदू, मुसलमान, ईसाई और दूसरे लोगों की सामूहिक भाषा । वे इसको हिंदी नाम दे देते तो अर्थ होता हिंद की भाषा । वे इसे हिंदुस्तानी भी कह सकते थे जैसे आगे चलकर गांधी जी ने भारतीय भाषा को हिंदुस्तानी का नाम देकर हिंदी और उर्दू दोनों के बीच की एक भाषा माना था । हिंदी और उर्दू में व्याकरण या गठन का तो कोई अंतर है नहीं, केवल थोड़ा शब्दावली और पृष्ठभूमि का अंतर है । दूसरा अंतर लिपि का है । पृष्ठभूमि के कारण सांस्कृतिक अंतर भी बीच में आ गए और इस अंतर के कारण ही भाषा संबंधी हिंदू और मुसलमानों के पारस्परिक और सभी अंतर भी आ खड़े हुए । इस प्रकार भाषा, संस्कृति, परंपरा और धर्म के आधार पर हिंदू और मुसलमान दो वर्ग बन गए । हिंदुस्तानी या भारतीय या सर सय्यद की कल्पना की ही एक हिंदू जाति का दो में बंटवारा हो गया । राष्ट्र तो समूचे समाज का व्यवस्थित रूप है । भाषा राष्ट्र में सर्वांगीण संचार का माध्यम है । उसी माध्यम को उर्दू नाम देकर केवल नाम के ही कारण भारतीय भाषा के सामूहिक और राष्ट्रीय रुख को सांप्रदायिक दिशा में मोड़ दिया । सर सय्यद स्वयं भी सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर से हटकर केवल सांप्रदायिक नेता बन गए ।

सर सय्यद भाषा के पश्चात् राष्ट्रीय केंद्रबिंदु से हटकर एकवर्गीय धर्म अर्थात् इस्लाम से जुड़ गए । इस बात को स्पष्ट करने से पूर्व हमें धर्म के सनातन और प्राचीन तत्त्व को समझना पड़ेगा । भारत में धर्म के दो रूप माने गए हैं : एक सनातन जो शाश्वत है और दूसरा युगीन जो युग-विशेष की परिस्थितियों के संदर्भ में सनातन की सिद्धि के लिए परिभाषित होता है । सनातन धर्म का स्रोत परम आत्मा है और युगधर्म का प्रवर्त्तक युगमानव होता है । युगधर्म का प्रेरणा-स्रोत भी होता तो परम आत्मा ही है किंतु परिस्थितियों के कारण उसकी भाषा और मूल साध्य-साधनों के रूप में सामयिक मिश्रण एवं परिवर्तन हो जाता है । यही कारण है कि आगे चलकर उसी युगधर्म के रूप में किसी दूसरे युगमानव के द्वारा परिवर्तन कर दिया जाता है, क्योंकि कोई भी सामयिक परिवेश चाहे वह भाषा हो, चाहे युगमूल्य हों, सनातन को बांध नहीं सकते । सनातन या शाश्वत तो समयातीत है अतः सार्वभौम है, सर्वकालीन है । राष्ट्र का धर्म उसका विधान और विधानांतर्गत मानवीय अर्थात् सामाजिक मूल्य होते हैं । विधान राष्ट्र का युगधर्म है जिसका आधार सनातन सत्य और मानव-धर्म है, किंतु उसकी परिभाषा सामयिक संदर्भ

में की जाती है । यही कारण है कि परिस्थितियों के बदलते ही वैधानिक परिवर्तन करने पड़ते हैं । विधान संशोधन (अमेंडमेंट) युगधर्म का परिवर्तन है और संसद युगमानव का प्रतीक । गीता में कृष्ण जब कहते हैं कि मैं युग-युग में धर्म के संस्थापन के लिए जन्म लेता हूं तो अर्थ यही है कि सनातन धर्मतत्त्व जब सामयिक परिस्थितियों से दूषित हो जाते हैं अथवा पूर्वकालीन परिभाषा नई समस्याओं के हल देने में असमर्थ हो जाती है तो धर्म को नया जीवन और नई भाषा देने के लिए स्वयं कृष्ण अर्थात् युगमानव को जन्म लेना पड़ता है । योगीराज के शब्द युगधर्म और विज्ञान दोनों के संबंध में लागू होते हैं । वे न केवल सनातन परंपरा में सही उतरते हैं अपितु इस्लामी परंपरा में भी सही हैं । इस्लाम आदम, मूसा, ईसा और जौन इत्यादि सभी पैगंबरों को मानता है, किंतु हजरत मुहम्मद को अंतिम पैगंबर मानता है । ईसाई हजरत ईसा मसीह को अंतिम पैगंबर मानते हैं । यहूदी हजरत मूसा को अंतिम पैगंबर मानते हैं और ये तीनों अपने-अपने पैगंबर द्वारा संप्राप्त धार्मिक और सामाजिक विधान को ही अंतिम मानते हैं । किंतु ये विधान ही यदि अंतिम होते तो ईसाइयत और इस्लाम में ही एक से अधिक विचारधाराएं कैसे बन जातीं ? किसी न किसी रूप में कोई न कोई परिवर्तन अवश्य होता है । युगीन परिवर्तन सनातन की प्रेरणा है और युगधर्म की मांग है । सनातन और नित्य-नूतन में आत्मा और शरीर का संबंध है ।

अब हम सर सय्यद के धर्म और राष्ट्र संबंधी शब्दों पर आते हैं । उन्होंने कहा : "यदि हम जीवन के उस भाग को छोड़ दें जिसका संबंध खुदा से है (अर्थात् धर्म को छोड़ दें) तो निस्संदेह एक देश के नागरिक होने के नाते हम सब एक राष्ट्र (नेशन) हैं ।"[13] एक दृष्टिकोण से देखा जाए तो ये शब्द सराहनीय हैं क्योंकि इन शब्दों से तो ऐसा लगता है कि सर सय्यद धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में विश्वास करते थे । किंतु देखने में यह आता है कि शायद ही कोई इस्लामी राष्ट्र हो जहां का विधान धर्मनिरपेक्ष हो । जितने भी इस्लाम प्रधान देश हैं उनका विधान धर्म पर आधारित है । भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है, वहां भी इस्लामी निजी कानून लागू है । यदि इसी नियम को सभी धर्मों की ओर से विधान पर लागू किया जाए तो कितने ही कानून बनाने पड़ेंगे । संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि इस्लाम की पृष्ठभूमि में संपूर्ण धर्मनिरपेक्ष विधान की आशा करना तो वास्तविकता से दूर की बात है । और इस्लाम की बात के साथ-साथ राष्ट्र की बात करने का अर्थ है राष्ट्र के सामूहिक और समूचे केंद्रबिंदु से एक कदम दूर रह जाना । यदि एक क्षण के लिए मान भी लिया जाए कि सर सय्यद धर्मनिरपेक्ष विधान एवं राष्ट्र की बात कर रहे थे तो भी ठीक नहीं होगा । इस्लाम के अंदर धार्मिक संबंध और विधान का एक त्रिकोण बनता है : व्यक्ति और भगवान का संबंध, व्यक्ति और मिल्लत (धार्मिक-सामाजिक) का संबंध और मिल्लत और भगवान का संबंध । इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य का व्यक्तिगत विधान अर्थात् उसके अधिकार और कर्तव्य और सामाजिक अथवा राष्ट्रीय विधान दोनों ही इस्लामिक विधान के अंग हैं और इस्लामिक विधान सनातन का युगीन रूप होने से आज के संदर्भ में परिवर्तन की अपेक्षा रखता है । सनातन की कोई भी सामयिक परिभाषा, सामयिक, भौगोलिक और लिपिबद्ध होने के

13. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 358

कारण सार्वभौम और सर्वकालीन नहीं हो सकती । वेद का भी कोई सामयिक भाष्य अंतिम नहीं हो सकता । इसी कारण ऋषियों को मंत्र-द्रष्टा कहा गया है, मंत्र-रचयिता या मंत्र-व्याख्याता नहीं । अनायास यह कहना पड़ता है कि राष्ट्रीय क्षेत्र में वर्ग-विशेष (मिल्लत) से जुड़कर सर सय्यद देश के सामूहिक और समूचे रूप से दूर हट गए ।

चलिए, सर सय्यद यदि इतने पर भी संतोष कर लेते तो भी उनका और उनके साथियों का सामूहिक और समूचा राष्ट्रीय रूप मान लिया जा सकता था । पर वे तो धर्म और भाषा से आगे सीधे राजनीति पर भी पहुंच गए । उन्होंने कहा : निस्संदेह जैसे धार्मिक वैभिन्न्य को छोड़कर हम यह चाहते हैं कि राजनीतिक मतभेद की ओर ध्यान न देकर हिंदू और मुसलमानों में सामाजिक स्तर पर पारस्परिक मित्रता, प्यार, सद्भावना और मातृभाव बना रहे ।[14] हिंदू (हिंदुस्तानी) के स्थान पर तो हिंदू और मुसलमान दो वर्ग आ गए । सामाजिक (मिल्लत संबंधी) और राजनीतिक संबंध अलग-अलग हो गए । परस्पर संबंध क्या बचे ? व्यक्तिगत मित्रता और व्यक्तिगत हितों के स्तर पर आर्थिक संबंध । सामूहिक, आर्थिक और सामाजिक हित या तो धार्मिक क्षेत्र के अंतर्गत थे या राजनीतिक क्षेत्र के अंतर्गत । ये दोनों अलग होने के बाद समाज का विभाजन तो हो ही गया । राष्ट्र कहां बचा ?

सर सय्यद स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करते थे । वे स्वतंत्रता की लड़ाई को ठोस राजनीति से दूर की बात मानते थे । उनके लिए वास्तविकता कहीं और थी । 1885 के आस-पास एक ओर तो इंडियन नेशनल कांग्रेस का गठन हो रहा था और दूसरी ओर सर सय्यद और उनके साथी किसी दूसरी कठोर वास्तविकता के ध्यान में बैठे थे और ठोस राजनीति की खोज में थे । कठोर वास्तविकता : अंग्रेजी सरकार की 1857 में विजय, कड़वा सत्य, ठोस राजनीति, मित्र लाभ, सरकार के साथ सहयोग, ये सर सय्यद के मूल नीति-सूत्र बन गए । साधन ? अंग्रेजी शिक्षा, नौकरी, वफादारी, राजसेवा । देने के लिए कहीं किसी के पास कुछ था तो सरकार के पास ही था और उसके पास बहुत कुछ था । शिक्षा की कमी के कारण मुसलमान सरकारी अनुग्रह से वंचित रह गए थे और 1857 ने तो उनको बहुत ही क्षति पहुंचाई थी । कुछ लेने के लिए सरकार की सहानुभूति और सद्भावना की आवश्यकता थी ।[15] सर सय्यद ने अपना शिक्षा प्रोग्राम प्रारंभ कर दिया । उन्होंने 1874 में अलीगढ़ मुस्लिम एंग्लो-ओरियंटल स्कूल खोल दिया । स्कूल को 1878 में कालेज बना दिया गया ।

पहले तो मुसलमान अंग्रेजी शिक्षा में पीछे रह गए थे, छोड़ भी दिए गए थे । 1871 में सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर ने लिखा था कि कलकत्ते के किसी कार्यालय में मुसलमान केवल कुली, हरकारा, दवात में स्याही भरना या कमल की मरम्मत करना, ये ही नौकरी कर सकत था, इससे ऊपर नहीं,[16] केवल अशिक्षित होने के कारण । अब शिक्षा के प्रति उनकी इस उदासीनता की ओर सरकार का ध्यान गया और उन्होंने उन्हें प्रोत्साहन दिया । आवश्यकता थी भी क्योंकि

14. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 358
15. वही, पृ० 374
16. 'इंडियन मुसलमान्स' (लंदन, 1871), पृ० 169

मित्रलाभ से ही तो वे मित्रभेद की नीति में सफल हो सकते थे । लार्ड नार्थबुक ने 1878 में दस हजार रुपए की राशि छात्रवृत्त्यार्थ अलीगढ़ मुस्लिम एंग्लो-ओरियंटल कालेज को अनुदान रूप में दी । 1882 में जब शिक्षा आयोग बिठाया गया तो हंटर महोदय आयोग के अध्यक्ष नियुक्त हुए । उन्होंने मुसलमानों को उनके शिक्षा-प्रयास के लिए साधुवाद देने के लिए आयोग की पहली बैठक अलीगढ़ में की और उनके शिक्षाधिकारों को मान्यता भी दी । उन्होंने आयोग की रिपोर्ट में सरकार से अनुरोध किया कि मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाए । मुसलमानों को उनके पारस्परिक गौरव और स्वाभिमान की याद दिलाते हुए उनका उत्साहवर्धन भी किया । आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह लिखा : "किसी वर्ग-विशेष को विशिष्ट प्रोत्साहन देना बुरी बात है । स्वयं मुसलमानों के लिए यह शर्मनाक बात होगी कि जिस गौरव का परिचय उन्होंने दूसरे क्षेत्रों में दिया है उसी स्वाभिमान से महत्त्वाकांक्षा की प्रेरणा लेते हुए उदात्त लक्ष्यों की ओर अग्रसर न हों । उन्हें कटिबद्ध हो जाना चाहिए कि पहले वे कितने ही पिछड़े हुए क्यों न रहे हों, भविष्य में वे किसी को भी अपने से आगे नहीं बढ़ने देंगे । उन्हें विश्वास हो जाना चाहिए कि वर्गीय प्रारक्षण और विशेष अनुग्रह की अपेक्षा स्वावलंबन और आत्मविश्वास श्रेयस्कर साधन हैं ।" मुसलमानों के आत्मविश्वास, साहस और गौरव का इन शब्दों में उद्बोधन करने के बाद उन्होंने सरकार से अनुरोध किया कि मिडल और हाई स्कूलों में जीवनोपयोगी शिक्षा प्राप्त करने के लिए मुसलमानों की सहायता की जाए और क्योंकि उन्हें उच्च अंग्रेजी शिक्षा की विशेष आवश्यकता है अतः उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें उदारतापूर्ण प्रोत्साहन दिया जाए ।[17] सरकार ने आयोग की सिफारिश स्वीकार कर ली और मुसलमानों को यह भी बतलाया कि खुले तौर पर हिंदुओं के बराबर आकर और पूर्णतया सरकारी उच्च अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके ही वे ऊंची सरकारी नौकरियां प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं ।[18]

मित्र-मिलन 1885 में संपन्न हुआ । इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से पहले लार्ड डफरिन सर सय्यद से मिले । उनकी जो भी बातें उस मीटिंग में हुई हों, लार्ड डफरिन को मीटिंग की सफलता से बड़ा ही संतोष हुआ ।[19] बाद में सर डब्ल्यू० एच० ग्रेगरी ने लार्ड डफरिन को साधुवाद दिया और उनकी नरमी, मुस्लिम तुष्टीकरण और नौकरियों के लिए उनको दिए गए प्रोत्साहन की नीति की सराहना की । उन्होंने लिखा : मुझे विश्वास है कि इस नीति के अच्छे परिणाम निकलेंगे । वास्तव में अच्छे परिणाम निकलना तो प्रारंभ भी हो गया । बाबू और ब्राह्मणों द्वारा चलाए गए सरकार-विरोधी आंदोलन में मुसलमानों ने कोई भाग नहीं लिया । भारतीय जनता का यह वर्ग एक समय तो अत्यंत बहादुर और खतरनाक होता था । अब इनके साथ संबंध-माधुर्य हमारे लिए बहुत बड़ी उपलब्धि रहेगी ।[20]

मधुर मिलन सफल रहा । 1886 में थियोडोर बेक अलीगढ़ मुस्लिम ओरियंटल कालेज

17. हंटर, 'शिक्षा आयोग रिपोर्ट', पैरा 580
18. सय्यद महमूद, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 175
19. 'अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट', जुलाई-दिसंबर, 1893
20. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 515

के प्रिंसिपल बने तो उन्होंने कालेज के विद्यार्थियों की राजभक्ति की सराहना की। उन्होंने कहा : इस कालेज के विद्यार्थी सरकार और अपने प्रिय सम्राट की ऐसी सेवा करने के लिए तैयार रहेंगे जिससे यह प्रमाणित हो जाएगा कि हिंदुस्तान के मुसलमान राज की सुरक्षा के लिए गोलियों और संगीनों का सामना करने के लिए तैयार हैं।[21] 1888 में सर सय्यद ने 'यूनाइटिड इंडिया पैट्रिओटिक एसोसिएशन' की स्थापना की। एसोसिएशन का उद्देश्य था कांग्रेस का विरोध करना और ब्रिटिश सरकार को मजबूत बनाना। 1893 में बेक महोदय ने 'मोहम्मदन एंग्लो-ओरियंटल डिफेंस एसोसिएशन आफ अपर इंडिया' का गठन किया जिसका उद्देश्य था कांग्रेस आंदोलन को मुसलमानों में फैलने से रोकना। बेक महोदय प्रधान और सर सय्यद के सुपुत्र सय्यद महमूद इस एसोसिएशन के मंत्री थे। एसोसिएशन के उद्घाटन के समय बेक महोदय ने कहा कि कांग्रेस एक परंपरावादी हिंदुओं का संगठन है। आवश्यकता यह है कि मुसलमान कांग्रेस के विरुद्ध लड़ें अन्यथा कांग्रेस सदा के लिए उनको गुलामी की जंजीरों में जकड़ लेगी।[22]

मित्रभेद संपन्न हुआ। मित्रभेद के माध्यम से शब्दभेद संपन्न होगा ही। आगे चलकर हम देखेंगे कि शब्दभेद के माध्यम से अंग्रेजी की नई व्यवस्थिति संपन्न हुई। अंग्रेजी की व्यवस्थिति के साथ राज-व्यवस्थिति तो जुड़ी हुई थी ही।

21. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II. पृ० 338
22. 'अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गज़ट', जनवरी, 1894

22
शब्दभेद

अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा ब्रिटिश कूटनीति के अंग थे। 1857 के बाद विशेषकर उन्नीसवीं शती के अंतिम चरणों में दोनों भारतीय राजनीति का अंग बन गए।

1857 से पूर्व और उसके आस-पास परतंत्रता की छाया में भी भारत एकछत्र राष्ट्र कहा जा सकता है क्योंकि राजे, नवाब, प्रजा, पेशवा, हिंदू, मुसलमान सभी मिलकर विदेशी सत्ता के विरुद्ध लड़े थे। सर सय्यद के मैदान में आते समय भी वह एकता एकता ही थी। इसी कारण तो सर सय्यद समस्त भारतीय जनसमुदाय को हिंदू कहकर पुकारते थे। किंतु जैसे ही उनका संपर्क शासन सत्ता से हुआ, मित्रभेद की नीति नए रूप में सामने आ खड़ी हुई। मित्रभेद के आधार थे भाषा, धर्म और राजनीति। सर सय्यद ने कहा था कि समस्त भारत की भाषा उर्दू है। किंतु सारे देश की जनता (हिंदू, मुसलमान, ईसाई इत्यादि) को हिंदू कहने के साथ-साथ भाषा को वे हिंदवी या हिंदी या भारती नहीं कह पाए थे। उर्दू नाम पाते ही यह भाषा, हिंदी के समकक्ष और सम-व्याकरण होते हुए भी, लिपि, शब्दावली और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण हिंदी की प्रतिपक्षी बन गई और वर्ग-विशेष की भाषा बनकर रह गई। भाषा के अलग होने के साथ सर सय्यद ने राजनीतिक मान्यताओं और धार्मिक विश्वासों को भी वर्ग-विशेष के साथ जोड़ दिया। परिणामस्वरूप सामूहिक अर्थात् राष्ट्रीय स्तर पर समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया : उर्दू-भाषी, सरकार-सेवी, और अहले-किताब एक वर्ग और अनुर्दू-भाषी, सरकार-विरोधी हिंदू-समाज दूसरा वर्ग। यह वर्गीकरण पूर्णतया तो ठीक नहीं है क्योंकि सारे मुसलमान इस वर्ग-विशेष के मानने वाले नहीं थे। बहुत सारे कांग्रेस के साथ थे। सारे हिंदू कांग्रेसी अथवा सरकार-विरोधी भी नहीं थे। बहुत सारे हिंदू उर्दू-प्रेमी थे। पर मित्रभेद के दृष्टिकोण से यह वर्गभेद सामाजिक और भाषायी स्तर पर एक वास्तविकता प्रतीत होता है। कूटनीति और राजनीति दोनों के दृष्टिकोण से यह मित्रभेद वर्गभेद बन गया और शिक्षा और भाषा के स्तर पर शब्दभेद बन गया।

सारे हिंदुस्तानी उर्दू-भाषी नहीं थे, सारे हिंदू उर्दू-भाषी नहीं थे, सारे मुसलमान भी उर्दू-भाषी नहीं थे। यदि ऊंचे वर्ग के, विशेषकर शहर में रहने वाले, मुसलमानों को छोड़ दिया जाए तो साधारण वर्ग विशेषकर ग्रामीण लोग तो वही क्षेत्रीय भाषा बोलते थे जिसे और सभी लोग बोलते थे। किंतु राजनीति में बड़ी विचित्र बातें होती हैं। वास्तविकता और मान्यता में एक बनावटी अंतर आ जाता है। उदाहरणार्थ, यह संभव है कि वही मनुष्य एक भाषा तो बोलता है, दूसरी लिखता है और तीसरी को मान्यता देता है। यह भी हो सकता है कि एक आदमी अंग्रेजी के माध्यम से

हिंदी का समर्थन करे और दूसरा हिंदी के माध्यम से हिंदी का विरोध करे। इसी प्रकार हम देखेंगे कि राजनीतिक स्तर पर एक सीमित वर्ग की भाषा को राष्ट्र की भाषा बतला कर देश को ही वर्ग-विशेष से जोड़ दिया गया। 1915 में इसी राजनीतिक दृष्टिकोण को शासकीय रूप दे दिया गया था। बंगाल सरकार ने 31 जुलाई, 1915 को कलकत्ता मदरसा संबंधी प्रस्ताव नं० 450 टी०जी० पास किया जिसके अनुसार फारसी का अनिवार्य विषय के रूप में अध्ययन समाप्त कर दिया गया। उर्दू को अखिल भारतीय मुस्लिम कल्चर की भाषा मान कर उर्दू के अध्ययन पर बल दिया गया और अंग्रेजी को अनिवार्य विषय बना दिया गया। जैसे ही उर्दू को मुस्लिम कल्चर की भाषा के रूप में माना गया, बंगला को बंगाल में ही मुसलमान जनता से छीनकर उसका गौरवमय सांस्कृतिक स्थान छीन लिया गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि संभवतः इसी आधार पर उर्दू के माध्यम से बंगला का विरोध किया गया और फिर उर्दू और बंगला दोनों को परस्पर विरोधी मानकर अंग्रेजी के मुकाबले में दोनों को छोड़ दिया गया और अंग्रेजी का स्थान भारतीय भाषा-राजनीति के ही आधार पर पक्का हो गया। बिल्लियां लड़ती रहीं, बंदर काम कर गया।

जब से अंग्रेजी राजभाषा बनी थी और शिक्षा-भाषा तो उससे पूर्व ही बन चुकी थी, तभी से समाज में शिक्षा और सरकारी नौकरी के लिए स्पर्धा बढ़ चली थी। कोई भी ऐसी स्पर्धा आर्थिक क्षेत्र में वैयक्तिक स्तर पर हुआ करती है, जातीय, वर्गीय अथवा सांप्रदायिक स्तर पर नहीं, क्योंकि स्पर्धा में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे सभी प्रत्याशियों से आगे निकलना चाहता है। प्रत्येक प्रत्याशी सभी के प्रतिपक्ष होकर लड़ता है। दूसरे या तो सभी उसके मित्र हैं या अमित्र। प्रत्याशी किसी भी जाति, वर्ग, संप्रदाय अथवा धर्म से संबंध रखते हों, केवल उसी के नाते वे दोस्त या दुश्मन नहीं होते। किंतु 1882 के पश्चात् इसी खुली स्पर्धा को सांप्रदायिक रूप दे दिया गया। मुसलमानों से कहा गया कि यदि तुम हिंदुओं के मुकाबले में आगे आना चाहते हो तो अंग्रेजी शिक्षा का सहारा लो और सरकार की मदद करो। कांग्रेस को हिंदुओं की संस्था कहा गया और बाबुओं और ब्राह्मणों के प्रतिपक्ष में मुसलमानों को सहायता का प्रोत्साहन और आश्वासन दिया गया। फलस्वरूप अंग्रेजी-सेवी मुसलमान विद्यार्थियों से तलवार पर हाथ मारकर ब्रिटिश राज की सेवा करने की आशा की गई। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के सामने जब हिंदू और मुसलमान शिक्षा-प्रेमियों ने अंग्रेजी के पक्ष या विपक्ष में अपने विचार रखे तो कुछ मुसलमानों ने अंग्रेजी का डटकर समर्थन किया और हिंदुओं के प्रतिपक्ष में खुलकर आए। उन्होंने सरकार से अनुरोध किया कि मुसलमानों को अंग्रेजी पढ़ने के लिए अधिकतम सुविधाएं दी जाएं क्योंकि अंग्रेजी शासकों की भाषा है और आर्थिक उन्नति का साधन है। सरकार विशेषतया मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ही अपने आस-पास विश्वासपात्र सेवकों का ऐसा वर्ग तैयार कर सकेगी जो अपनी धार्मिक ट्रेनिंग के कारण दूसरे आर्थिक और लौकिक शिक्षा के समर्थकों की अपेक्षा कहीं अधिक वफादार रहेंगे।[1] इशारा साफ था। अंग्रेजी शिक्षा के क्षेत्र में हिंदू मुसलमानों से बहुत आगे निकल गए थे और आर्थिक और लौकिक रूप से अधिक उन्नति कर रहे थे। किंतु वे कांग्रेस द्वारा आंदोलन

1. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 131

के कारण सरकार-विरोधी और कृतघ्न समझे जा रहे थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्दभेद न केवल उर्दू और बंगला में हो रहा था अपितु हिंदू वर्गीय अंग्रेजी और मुस्लिम वर्गीय अंग्रेजी में हो रहा था।

मुसलमान अंग्रेजी के पक्ष में हिंदुओं की अपेक्षा बड़ी देर में जागे थे। सर सय्यद के प्रयास के बावजूद 1897-1902 में मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या सेकंडरी स्कूलों में 14.4 प्रतिशत थी, आर्ट्स कालेजों में 7.3 प्रतिशत और व्यवसाय कालेजों में केवल 6.4 प्रतिशत थी। किंतु जब भी वे जागे, जागे पूरे जोश के साथ। जो काम राजा राममोहन राय ने 1817 में किया था वह अंग्रेजी मुस्लिम वर्ग ने 1917 में किया। बंग मुसलमानों ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन को एक परिपत्र दिया जिसमें यह कहा गया : मुसलमानों को सरकार के संरक्षण से एकदम अलग कर दिया था। वे भौचक्के-से रह गए थे। वे उस भाषा को नहीं छोड़ सकते थे जिससे उनका धार्मिक और सामाजिक जीवन निकट से जुड़ा हुआ था। परिणामस्वरूप कलकत्ता मदरसा का अरबी विभाग पुरानी पद्धति से ही चलता रहा और अपने प्रारंभिक मूल्य और उपयोगिता को खो बैठा। मदरसे से निकलने वाले स्नातकों को सरकारी नौकरी पाने का अवसर नहीं मिलता। कहीं शादी रजिस्ट्रार या फारसी अथवा अरबी टीचर की नौकरी शायद मिल जाती हो किंतु उसके लिए भी अब तो अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक हो गया है। इन परिस्थितियों में वे मजबूर होकर या तो धर्म-प्रचारक बन जाते हैं और दूसरों की खैरात पर निर्वाह करते हैं या किसी मस्जिद में इमाम या मुअज्जन की नौकरी करते हैं जहां पेट भरने के लिए भी पूरा वेतन नहीं मिलता।[2] ये शब्द वैसे ही हैं जैसे 1835 में लार्ड मकाले ने अपने शिक्षा-प्रस्ताव में लिखे थे। बंगाल के मुसलमानों ने सरकार से अनुरोध किया कि उनके लिए एक ऐसी शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है जिससे उभरती पीढ़ी को अपनी नौजवानी में ऐसी स्वस्थ और सशक्त ट्रेनिंग मिले जिससे वे बौद्धिक और नैतिक विकास को प्राप्त होकर समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकें। उन्होंने यह भी कहा कि पश्चिमी बंगाल के वे मुसलमान, जो कलकत्ता मदरसा में पुराने कोर्स के चलते रहने के लिए शोर मचा रहे हैं, ऐसे हैं जो स्वयं अपने किसी मित्र या रिश्तेदार को भी शिक्षा के लिए मदरसे नहीं भेजेंगे, उनके बच्चों का तो कहना ही क्या।

जिस समय कलकत्ता मदरसा खुला था उससे पहले कलकत्ते के कुछ प्रतिष्ठित मुसलमान लार्ड हेस्टिंग्ज़ से मिले थे। वे अपनी ओर से ही मिले थे। उस समय से लेकर कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन तक अर्थात् 1882 और 1902 के आयोगों के समय और 1915 के सम्मेलन के अवसर पर सरकार ने किसी से कोई राय नहीं ली थी। कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन के समय कैसे पूछ लिया गया ? कारण और कुछ भी रहे हों एक कारण साफ यह दीखता है कि 1917 तक अंग्रेजी के पक्ष में एक वर्ग का पक्का जनमत तैयार हो चुका था और इस जनमत के उभरने से अंग्रेजी का पक्ष सबल होता ही दीख रहा था। किंतु साथ में यह भी स्मरणीय है कि यद्यपि भारतीय भाषाओं की प्रारंभ से ही अवहेलना की गई थी तथापि वह प्रश्न शांत नहीं

2. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 127-28

हुआ था और बार-बार उभरकर सामने आता रहता था । अब अंग्रेजी के पक्ष में और भारतीय भाषा के विरुद्ध एक वर्ग-विशेष का पक्का जनमत भी तैयार हो चुका था और उसके लिए चालीस वर्ष से प्रयास किया जा रहा था ।

कलकत्ते के मुसलमानों का एक प्रतिनिधि-मंडल कमिशन से मिला । उन्होंने कहा कि शिक्षा-माध्यम का प्रश्न मात्र शिक्षा संबंधी प्रश्न नहीं है । इसी कारण इस प्रश्न पर अपना फैसला देने से पूर्व कमिशन के लिए यह आवश्यक हो गया है कि पिछले चालीस वर्ष से चल रहे तर्क-वितर्क, वाद-प्रतिवाद पर पूर्णरूपेण विचार कर लिया जाए । प्रतिनिधिमंडल ने जोर दिया कि प्रशासन में हम अपना उचित भाग और अधिकार प्राप्त नहीं कर पाए और यह हानि हमें इस कारण उठानी पड़ी कि हम अंग्रेजी शिक्षा के प्रति उदासीन रहे । उन्होंने कमिशन से अनुरोध किया कि वर्तमान सिस्टम में यदि कोई भी परिवर्तन किया गया तो अंग्रेजी शिक्षा की प्रगति को अत्यंत क्षति पहुंचेगी जबकि मुसलमानों ने केवल थोड़े समय से ही इसके महत्त्व को समझा है ।[3] 1915 में सर हारकोर्ट बटलर भी कह चुके थे कि शिक्षा-माध्यम का प्रश्न न तो स्थानीय रह गया था, न मात्र शिक्षा संबंधी । प्रश्न सारे हिंदुस्तान का था और अलग-अलग सूबों में भी स्थान-स्थान में अंतर था । इसी कारण उन्होंने पं० मदन मोहन मालवीय के प्रस्ताव करने पर भी शिक्षा-माध्यम के प्रश्न पर केंद्रीय समिति बिठाने से इनकार कर दिया था । मित्रभेद के साथ-साथ ही शब्दभेद संपन्न हो गया था ।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन के समक्ष जो प्रश्न थे उनके संबंध में जो उत्तर अथवा अभिवेदन विभिन्न प्रतिनिधियों और वर्ग-विशेष की ओर से मिले उनको देखने से पता चलता है कि शिक्षा और भाषा दोनों ही आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न बन चुके थे । इसके अतिरिक्त पढ़ने और पढ़ाने संबंधी समस्याओं अथवा विद्यार्थियों के मानसिक भार का हल भी अंग्रेजी दृष्टिकोण से ढूंढ़ा जा रहा था । कमिशन ने शिक्षा के लक्ष्य की चर्चा की :

1. स्कूल में विद्यार्थी का बौद्धिक विकास बेहतर हो,
2. अंग्रेजी की योग्यता पहले से अधिक हो ।[4]

इसके साथ सरकार के शिक्षा और भाषा संबंधी उद्देश्य की चर्चा भी की गई ।

1. हिंदुस्तानियों को ऊंची अंग्रेजी शिक्षा देना अंग्रेजी के माध्यम से ।
2. भारतीय भाषाओं का विकास करना और उनको पूर्णतया उपयोगी बनाना ।

ये सभी लक्ष्य और उद्देश्य दो प्रश्नों पर केंद्रित कर लिए गए :

1. अंग्रेजी भाषा का महत्त्व,
2. भारतीय शिक्षा पद्धति में भारतीय भाषाओं का स्थान ।

प्रारंभ से ही एक समस्या तो साफ थी : अंग्रेजी के माध्यम से बच्चों का मानसिक विकास नहीं

3. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 272
4. वही, पृ० 37-38

हो रहा था किंतु उनकी सारी शक्ति और सारा समय इसी को पढ़ने में समाप्त हो जाता था और अंत में न उन्हें अंग्रेजी आती थी, न उनका मानसिक विकास होता था । इसका समाधान केवल यही हो सकता था कि उनकी शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से हो । इसलिए प्रश्न यह होना चाहिए था कि मातृभाषा को कैसे शिक्षा-माध्यम बनाया जाए और उनके विकास के लिए क्या-क्या प्रयत्न किए जाएं । मुख्य प्रश्न बना अंग्रेजी का महत्त्व और दूसरा प्रश्न भारतीय भाषाओं का विकास । भारतीय शिक्षा गौण प्रश्न बनकर रह गई । फिर भी जैसा भी यह प्रश्न रहा हो, अंततोगत्वा वहीं जाके टिका : शिक्षा-माध्यम क्या हो ? अंग्रेजी या बंगला ? भाषा-रूप में तो अंग्रेजी के महत्त्व के बारे में किसी को कोई संदेह था ही नहीं, वह तो राजभाषा थी ।

शिक्षा-माध्यम के लिए तीन विकल्प सामने आए : बंगला, उर्दू और अंग्रेजी । बंगला तो सारे बंगाल की भाषा थी और है । यदि मातृभाषा ही शिक्षा का उत्तम माध्यम माना जाए तो बंगला से अच्छा और कौन-सा माध्यम हो सकता था ? फिर उसके पक्ष और विपक्ष में जो विचार आए उनसे प्रतीत होता है कि शब्दभेद कितनी गहराई तक पहुंच चुका था । हम यह भी देखेंगे कि शब्दभेद का मुख्य आधार था अंग्रेजी भाषा और सांप्रदायिकता । सांस्कृतिक विभिन्नता भी कारण बताया गया था । किंतु उस विभिन्नता का कारण भी तो सांप्रदायिकता ही था ।

करीब-करीब सभी मुसलमानों ने बंगला का विरोध किया । कहा यह गया कि बंगला की शब्दावली और आंतरिक गठन (आत्मा) दोनों ही असमृद्ध हैं । उसमें ऊंचे और प्रगतिशील विचार व्यक्त नहीं किए जा सकते । इसे समृद्ध बनाने के लिए संस्कृत की सहायता लेनी पड़ेगी । संस्कृत शब्द, वाक्य-गठन, विचार, किस्से-कथाएं, गाथाएं सभी कुछ तो लेना पड़ेगा और उसके कारण जैसे एक मृत भाषा का अस्थिपंजर जीर्ण-शीर्ण होता है वैसे ही बंगला का भी गठन अतीत की भांति मुर्दा हो जाएगा । एक महोदय जो फारसी और उर्दू पढ़ाते थे, उन्होंने तो यह भी कह दिया कि यदि बंगला को शिक्षा-माध्यम बना दिया गया तो सारे मुसलमान बच्चों को हिंदू अध्यापकों से पढ़ना पढ़ेगा । वास्तव में हिंदू अध्यापकों से पढ़ने के कारण मुस्लिम बच्चों का आचार-विचार और मान्यताएं इतनी बदल गई हैं कि कुछ तो आत्मा के आवागमन में भी विश्वास करने लगे हैं ।[5] इस प्रकार बंगला का विरोध सांस्कृतिक और सांप्रदायिक आधार पर किया गया । सांस्कृतिक स्तर पर विरोधी भाषा के स्थान पर अंग्रेजी ही मान्य रही । शिक्षा-माध्यम पांचवीं कक्षा से अंग्रेजी हो, फारसी और अरबी के अध्यापकों ने यही सुझाव दिया ।[6] अरबी-फारसी के समर्थकों के लिए अंग्रेजी अपनी, बंगला विदेशी । बंगाल में ही बंगला विदेशी या बेगानी भाषा बन गई ।

अंग्रेजी-पक्षीय और बंगला-विरोधी शब्दभेद के पश्चात् बंगला और बंगला में भी शब्दभेद हो गया । सांस्कृतिक आधार के साथ-साथ सांप्रदायिक आधार पक्के हो गए और क्षेत्रीय आधार भी बीच में आ गए । एक बंगला वह जो पश्चिमी बंगाल में बोली जा रही थी । उसका आधार-स्रोत संस्कृत था और हिंदू बंगाली समाज उसे बोलता था । दूसरी बंगला पूर्वी बंगाल में

5. 6. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 273-74

बोली जाती थी । उसकी शब्दावली में अधिक उर्दू, फारसी और अरबी के शब्द थे और अधिकतर मुसलमान बंगाली उसे बोलते थे । इस प्रकार बंगला के भी दो भेद हो गए, हिंदू बंगाली और मुस्लिम बंगाली । बात इससे भी आगे बढ़ी । ऐसा कहा गया कि पूर्वी बंगाल में तो भाषाओं की एक विचित्र-सी खिचड़ी बन गई थी जिसमें यह पता नहीं था कि कौन-सा दाना काहे का था । हां, उसे एक प्रकार की बंगाली तो कहा ही जाता था । इस प्रकार यदि बंगला को शिक्षा-माध्यम बनाया गया तो कौन-सी बंगला को चुनेंगे और जिस भी बंगला को चुनेंगे, दूसरे क्षेत्रों के विद्यार्थी एवं दूसरे संप्रदाय के लोग उसे कैसे समझेंगे ? इस प्रकार के विचार रखने वाले मुसलमानों ने भी यह सुझाव दिया कि अंग्रेजी को ही शिक्षा-माध्यम रखा जाए ।[7] इन विचारों को सुनते ही सर हारकोर्ट बटलर की बात याद आती है । उन्होंने कहा था कि देश के विभिन्न भागों में स्थानीय आधार पर भी विचारभेद हो सकता है और विभिन्न स्थितियों के होते हुए शिक्षा-माध्यम में परिवर्तन करके अंग्रेजी के स्थान पर कौन-सी भाषा लाई जाए, यह विकट समस्या है ।

शब्दभेद के सांस्कृतिक, क्षेत्रीय और सांप्रदायिक रूप को अंत में शिक्षण-भार के रूप में पेश किया गया । यदि बंगला को शिक्षा-माध्यम और परीक्षा-माध्यम बनाया गया तो मुसलमान विद्यार्थियों पर हिंदू विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक भार पड़ेगा । संस्कृत शब्दावली, वाक्य-रचना और पृष्ठभूमि के कारण बंगला सांस्कृतिक आधार पर हिंदू विद्यार्थियों के मन, भावनाओं और संस्कारों से मेल खाएगी । इसके अतिरिक्त संस्कृत के पारंपरिक वातावरण में रहने वाले या संस्कृत पढ़ने वाले हिंदू बच्चे संस्कृतनिष्ठ बंगला को आसानी से समझ लेंगे । वही भाषा मुसलमान बच्चों के लिए दुर्गम होगी । वे उर्दू, फारसी या अरबी पढ़ेंगे, संस्कृत नहीं । इस कारण वे बंगला में दिए गए लेक्चर नहीं समझ पाएंगे । बंगला को समझने के लिए उनके मस्तिष्क पर अधिक बोझ पड़ेगा और इस बोझ के नीचे दबकर वे अंग्रेजी में कमजोर रह जाएंगे ।[8] संकेत अचूक है : आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दौड़ का रास्ता है अंग्रेजी । दौड़ हिंदुओं के साथ है । संस्कृतनिष्ठ बंगला के चक्कर में पड़कर मुसलमान हिंदुओं से पीछे क्यों रहें ? अंग्रेजी माध्यम के रहते कम से कम एक जैसा भारी पिट्ठू तो लेकर दौड़ना पड़ेगा । मंजिल पर पहुंचने के लिए बराबर की दौड़ में भार भी बराबर होना चाहिए । यह किसी ने नहीं सोचा कि बोझ के नीचे दोनों ही टूट गए तो ? संभवतः यह भी मान्य होता—अंग्रेजी के पक्षधर और स्पर्धा के दीवाने यदि टूट भी जाते तो कम से कम दोनों वर्ग बराबर तो रहते, दूसरा आगे तो नहीं निकल पाता । जीवन से कभी मौत भी अच्छी हो सकती है क्या ? उत्तर : हां, फंदा अंग्रेजी हो तो !

शब्दभेद के इस कोलाहल में उर्दू ने भी हाथ उठाया और क्षेत्रीय तथा सारे भारत की भाषा होने के आधार पर अपनी आवाज बुलंद की । किंतु आश्चर्य की बात यह है कि उर्दू के पक्षधरों ने उर्दू के लिए लड़कर भी अंग्रेजी का ही समर्थन किया । आल इंडिया मोहम्मदन कान्फ्रेंस के अध्यक्ष ने उर्दू का समर्थन किया, किंतु नंबर दो पर । एक नंबर पर उन्होंने भी अंग्रेजी को ही

7. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 279
8. वही, पृ० 272

रखा । उन्होंने कमिशन को अपने प्रतिवेदन में कहा : "मैं चाहता हूं कि हाई स्कूल में और बी०ए० तक कालेजों में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषा हो, किंतु मैं बलपूर्वक यह कहना चाहता हूं कि यदि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम न रखा जा सके (अर्थात् अंग्रेजी के स्थान पर यदि भारतीय भाषा को लाया ही जाए) तो मुसलमान विद्यार्थियों के सामने निश्चित रूप से यह विकल्प सदा होना चाहिए कि वे उर्दू को शिक्षा-माध्यम के तौर पर ले लें । सारे सरकारी कालेजों में और यूनिवर्सिटी में उर्दू पक्ष उतना ही सबल हो जितना कि और कोई भाषा पक्ष । यदि किसी कारण यह संभव न हो तो यह अत्यंत आवश्यक है कि मुसलमान विद्यार्थियों के हितों को सामने रखते हुए अंग्रेजी को ही शिक्षा-माध्यम के रूप में चलते रहने दिया जाए ।" उर्दू पक्ष के ये लोग यह तो मानते थे कि सारे भारत की जनभाषा उर्दू है और इसके अतिरिक्त विशेषकर भारत के सारे बड़े शहरों में मुसलमानों की भावनाओं को भी छूती है, फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने उर्दू के स्थान पर अंग्रेजी को ही श्रेयस्कर समझा ।[9]

एक और वर्ग मुसलमानों में ऐसा था जो भाषा की समस्या को सामाजिक और वास्तविक रूप में देखता था । ये लोग उर्दू समर्थकों को मात्र अल्पसंख्यक मानते थे । 'बंगाल प्रोविंशल मोहम्मदन एज्यूकेशन कान्फ्रेंस' ने उर्दू पक्षीय विचारों का विरोध किया और कहा कि बंगाल में मुसलमानों की मातृभाषा बंगाली है उर्दू नहीं । तनिक-सी संख्या को छोड़कर जो कि कलकत्ता, मुर्शिदाबाद और ढाका शहरों में रहते हैं और उर्दू का समर्थन करते हैं, सभी की मातृभाषा बंगला है । उनके लिए उर्दू तो प्रायः एक विदेशी भाषा जैसी है । बंगाल के मुसलमान विद्यार्थी उर्दू पढ़ने में कठिनाई का अनुभव करते हैं । इसी कारण यद्यपि उनको उर्दू का विकल्प उपलब्ध है, फिर भी वे यूनिवर्सिटी परीक्षा में भारतीय विषय के रूप में बंगला को ही लेते हैं । मुसलमानों का ही एक और वर्ग था जो यह तो मानता था कि उर्दू सारे भारत की जनभाषा है और मुसलमानों की भावनाओं के निकट भी है, फिर भी वे यह जानते थे कि शिक्षा क्षेत्र में गांव के रहने वाले मुसलमान भी जागने लगे हैं, और उनकी भाषा उर्दू नहीं है, बंगला है । बंगाल की क्षेत्रीय भाषा बंगला होने के कारण वे यह भी मानते थे कि शिक्षित मुसलमान समाज में बंगला उचित स्थान ले लेगी, विशेषकर इस कारण कि हिंदुओं के साथ साधारण प्रतिस्पर्धा में भी तो बंगला ही चाहिए । किंतु वे इस तथ्य से भी भली भांति परिचित थे कि एक वर्ग उर्दू से इतना निकट से जुड़ा हुआ था कि वह बंगला सीखने को तैयार ही न था । यह वर्ग निर्बल अथवा अत्यंत अल्पसंख्यक नहीं था और यह मनवा सकता था कि यूनिवर्सिटी में शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से ही हो । ऐसे हालात में बंगला पक्षीय वर्ग के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि वह अंग्रेजी का ही पक्ष ले ।[10] कमिशन के मत में भी उर्दू पक्ष अल्पसंख्यक या कमजोर नहीं था । 1911 की जनगणना के अनुसार बंगाल के दो करोड़ चालीस लाख मुसलमानों में से बीस लाख ने अपनी भाषा उर्दू लिखवाई थी । कमिशन का मत यह था कि उनके लिए विशेष प्रबंध करना पड़ेगा ।[11] अतः

9, 10. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 276, 278
11. वही, V, पृ० 35

बंगला पक्ष के सामने भी अंत में यही तथ्य उभरकर आया : यदि उर्दू एक विदेशी भाषा जैसी है और यदि विदेशी भाषा ही पढ़नी है तो अंग्रेजी ही क्यों न पढ़ें ? यहां हमें एक संकेत भी मिलता है : आगे चलकर कभी यही उर्दू-विरोधी दलील हिंदी के विरुद्ध भी, अंग्रेजी पक्ष में दी जा सकती थी ।

शब्दभेद में अभेद्य रही तो केवल अंग्रेजी, न बंगला बची न उर्दू । सबने अंग्रेजी का ही समर्थन किया । किसी ने स्वतंत्रतापूर्वक, और किसी ने विवश होकर । अंग्रेजी का समर्थन साहित्यिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आधार पर भी बलपूर्वक किया गया । संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. अंग्रेजी अत्यंत विकसित भाषा है और उसमें एक विशाल और उदात्त साहित्य की रचना हो चुकी है । अंग्रेजी के माध्यम से वह साहित्य भारत की अपनी विभूति बन रहा है ।
2. अंग्रेजी भाषा और साहित्य के कारण भारत में जागृति आई है जो भारतीय जीवन के प्रत्येक अंग को प्रस्फुरित कर रही है ।
3. भारतीय भाषाएं सुंदर हैं और अपने आप में अत्यंत आवश्यक हैं, किंतु फिर भी वे हैं तो क्षेत्रीय । उनका विकास भी हो सकता है, किंतु एक ही क्षेत्र में भी कितनी विविधता है । उनके आधार पर भारत एक तो नहीं कहा जा सकता । अंग्रेजी सारे भारत की भाषा है और भारत की एकता का नया प्रतीक है ।
4. अंग्रेजी भारत के शिक्षित वर्ग की भाषा बन चुकी है । वह अखिल भारतीय संपर्क और संचार का माध्यम है, विशेषकर विद्वद्वर्ग के बीच । यदि अंग्रेजी को छोड़ दिया तो भारत के शिक्षित वर्ग का परस्पर संचार समाप्त हो जाएगा और भविष्य में मानसिक प्रगति और शिक्षा-प्रगति रुक जाएगी ।
5. अंग्रेजी केवल शिक्षित भारत की ही भाषा नहीं है अपितु जनभाषा बनने वाली है । उसको छोड़ देने से देश की एकता और राष्ट्रीयता को क्षति पहुंचेगी ।
6. अंग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय भाषा है । इसके माध्यम से भारत का संपर्क इंग्लैंड और ब्रिटिश साम्राज्य-स्थित दूसरे देशों से है । एक नए संसार में भारत के नए भाग्य का उदय हो रहा है । यदि भारत अंग्रेजी को नकारेगा तो उस नए भाग्योदय को ही नकारेगा ।

अंग्रेजी की सत्ता राजसत्ता के समान बनी रही । शब्दभेद भी वैसे का वैसा ही बना रहा । शब्दभेद में राजसत्ता के साथ जनसत्ता और जुड़ गई । अंग्रेजी जनभाषा बनने वाली थी, मान लिया गया कि बन गई । जा को मानै साइयां, टार सकै न कोय !

23
राजसरस्वती

राजसरस्वती ? अर्थात् शिक्षा भाषा पालिटिक्स । कूटनीति, मित्रभेद और शब्दभेद के साथ राजसरस्वती का उदय होता है और उस भाषा-साम्राज्य की भाषा-पालिटिक्स में उसकी परिणति हो जाती है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सरस्वती का राजकरण हो जाता है ।

सरस्वती स्वयं चेतना है । चेतना आत्मप्रकाश है । शब्द उसी की देन हैं । भाषा उसी की रचना है । आत्मभूतस्थ वाक्शक्ति का बुद्धिसत्त्व के माध्यम से जीवन में उदय होता है । बुद्धिसत्त्व प्रकाशशील है, वर्णातीत है और प्रकाश की भांति अनेक वर्णों को अभिव्यक्त और अभिलक्षित करता है । अनेक वर्ण वर्णातीत प्रकाश में वैसे ही समाहित हो जाते हैं जैसे सातों सुर ओंकार में समाहित हो जाते हैं । प्रकाश किसी को रंगता नहीं, केवल रंग को यथातथ्य सामने ले आता है । सत्त्व स्वयं लिप्त नहीं होता, किसी चक्कर में नहीं पड़ता । सत्त्वशील पुरुष अहम् में भी नहीं उलझता, केवल वस्तुतत्त्व को देखता है । सत्त्वशील पुरुष की भाषा भी वस्तुतत्त्व की चेतना को ही अभिव्यक्त करती है । यदि कोई अहम् है तो वही चेतना उसका अहम् है, और कुछ नहीं । उसका अहम्, चेतना और भाषा सभी केवल सनातन सत्य की चेतना और अभिव्यक्ति का माध्यम हैं । यही सत्त्व-साधना-भाषा सरस्वती की देन है जिसका उदय मनुष्य के जीवन में सत्त्व के माध्यम से प्रकृति परंपरा और परिवेश के आंगन में होता है और प्रवाह मां के श्रीमुख से प्रारंभ होकर संसार में से विचरता हुआ सरस्वती में ही समापन हो जाता है ।

किंतु सत्त्व और प्रकाश का मार्ग सदा साफ और निर्विघ्न रहे यह आवश्यक नहीं । इस रंग-बिरंगी दुनिया में रजस् आ जाता है । तमस् भी आ जाता है । रजस् गतिशील है । रजस् के प्रभाव से सत्त्व भी चलायमान हो जाता है और एकता के स्थान पर विविधता आ जाती है । वर्णातीत प्रकाश भी जब प्रिज्म के बीच होकर गुजरता है तो सात रंगों में विभाजित हो जाता है । रजस् के ही प्रभाव से एक शब्द सात सुरों में विभाजित हो जाता है । शब्द में ही जब गति आती है तो स्वर सहित अनेक वर्णों का जन्म होता है । तमस् मात्र स्थितिशील है । तमस् के प्राधान्य से गति वैसे ही समाप्त हो जाती है जैसे पर्वत पर एयरक्रैश हो जाता है । तमस् में प्रकाश का भी विलय हो जाता है, वैसे ही जैसे कोयले में सूर्यप्रभा का विलय हो जाता है । सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों ही प्रकृति के गुण हैं । तीनों के संतुलन से जीवन में व्यवस्थिति आती है । संतुलन के बिगड़ते ही व्यवस्थिति बिगड़ जाती है । तमस् प्रधान समाज निर्जीव हो जाता है जैसे

मध्यकालीन भारत । रजस् प्रधान समाज अतिशय गतिशील हो जाता है जैसे साम्राज्यवादी ब्रिटेन । ब्रिटेन का जब भारत में आगमन हुआ उस समय भारत सोया पड़ा था ।

ब्रिटेन ने भारत को जगाने का दावा किया और अंग्रेजी शिक्षा और भाषा को जागृति का माध्यम बनाया । इसी शिक्षा और भाषा के साथ राजसरस्वती का उदय हुआ । इस शिक्षा-भाषा प्रयास का ध्येय प्रकाश भी था और गति भी, किंतु प्रकाश सत्त्व-प्रकाश नहीं था, वह अंग्रेजी रजस् रंग को लिए हुए था और अंग्रेजी रंग में यहां की सभ्यता और संस्कृति को रंगना चाहता था । उसमें गति भी थी किंतु ऊर्ध्वगति नहीं थी, वह केवल ब्रिटेन की दिशा में ही थी । हां, उसी शिक्षा के फलस्वरूप जब भारत का सत्त्व-अहम् जागा और इस अहम् के साथ जब गति आने लगी तो सरकार ने उसी गति को वर्गभेद में परिणत करने का प्रयास किया । वर्गभेद के साथ-साथ शब्दभेद का प्रवाह होने लगा । वही शब्दभेद राजसरस्वती का साधन बन गया । राजसरस्वती को ही हम वामा सरस्वती का अद्यतन रूप कह सकते हैं । राजसरस्वती से केवल एक ही प्रार्थना की जा सकती है : तमसो मा गतिर्गमय, गतिर्गमयेति ।

भारत में अंग्रेजी भाषा राजसरस्वती की देन है । यहां अंग्रेजी का उदय प्रकृति परंपरा या परिवेश के प्रांगण में नहीं होता, न मां के श्रीमुख से । इसका उदय स्कूल में होता है, मास्टर साहब के श्रीमुख से, और सीधा ब्रेन पर चोट करता है । यह न संस्कार में उतरती है न भाव को छूती है, और यदि भावों को छूती भी है तो उनको डिस्टर्ब करती है और एक विचित्र शब्द भाव-विचार विक्षेप को पैदा करके डबल पर्सनलिटी को जन्म देती है । राजसरस्वती के साधक भी इसी विक्षेप का सहारा लेकर डबल पर्सनलिटी का समर्थन करते हैं । उनमें सत्त्व और रजस् का सह-अस्तित्व तो हो सकता है सामंजस्य नहीं होता । ऐसी अवस्था में अंग्रेजी-प्रधान रजस् का ही राज बना रहता है । कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन की कार्यवाही को हम देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि कमिशन के सारे सदस्य राजसरस्वती के साधक थे ।

कमिशन ने शिक्षा की स्थिति को देखकर कुछ सीधी और सच्ची बातें कहीं किंतु राजनीतिक स्थिति को देखकर वे उन बातों पर टिक नहीं सके । वर्गभेद के साथ-साथ शब्दभेद इतना गहरा रंग पकड़ चुका था कि उस रंग को काटना असंभव दीखने लगा था । शिक्षा क्षेत्र में मानसिक विकास की नैसर्गिक प्रक्रिया तो बहुत पीछे चली गई थी, सामने रह गई केवल वर्गनिष्ठ राजनीति और सरकारनिष्ठ भाषा-नीति । प्रकृति को छोड़कर समाज विकृति का शिकार हो गया था । उसी विकृति के दबाव के नीचे कमिशन को झुकना पड़ा । कमिशन के अपने ही शब्दों में : "मुख्य प्रश्न यह है कि शिक्षा का माध्यम क्या हो ? अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं का सापेक्ष महत्त्व क्या हो ? किंतु इस प्रश्न के कारण सूबे में रहने वाले विभिन्न वर्गों के हितों और अधिकारों से संबद्ध एवं देशभक्ति और गूढ़ राजनीति संबंधी दूसरे प्रश्न ऐसे खड़े हो गए हैं जिनके सामने शिक्षा, मनोविज्ञान और भारतीय भाषाओं की अपनी क्षमता इत्यादि प्रश्न, यद्यपि उनका अपना महत्त्व है, फिर भी सब फीके पड़ गए हैं । बंगाल के शिक्षित समाज में कम से कम तीन सौ व्यक्तियों की ओर से जो विचार हमारे सामने प्रस्तुत किए गए हैं उनकी शैली इतनी आवेशपूर्ण और गरम है कि

उससे यही पता चलता है कि ये प्रश्न बंगाल के शिक्षा-जगत के मन की गहराइयों में उतर चुके हैं ।"[1] इस गर्मी के वातावरण में कहां की सचाई और किसकी हित साधना ?

प्रश्न समाज का नहीं रहा था, शिक्षित वर्ग का बन गया था । यह वर्ग तो अंग्रेजी के रंग में रंगा जा चुका था और इससे भी आगे सांप्रदायिक वर्गों में बांटा जा चुका था । इस वर्ग का देश और समाज के साथ संबंध तो अवश्य था किंतु यह अपने आपको ही देश और समाज का प्रतिनिधि समझता था और मात्र अपने हित से देश का हित साधना चाहता था । इन्होंने विद्यार्थियों के हितों को भी अपने ही वर्गहितों में परिणत कर लिया था और शिक्षण मनोविज्ञान के प्राकृतिक तथ्यों को देखने से भी इनकार कर दिया था । इनका अपना हित अंग्रेजी के माध्यम से सरकार और प्रशासन के साथ चलने में था । अंग्रेजी के ही माध्यम से एक वर्ग दूसरे को हराना चाहता था । आर्थिक और राजनीतिक हितों के टकराव और कोलाहल में न जनता दिखाई दी, न विद्यार्थियों की पुकार किसी को सुनाई दी । केवल इस वर्ग की आवाज कमिशन के लिए आकाशवाणी बन गई और अपने सामने सीधे-सच्चे प्रश्न होते हुए भी कमिशन ने इस आवाज को नकारने की हिम्मत नहीं की । इसकी गर्मी के सामने कमिशन ठंडा पड़ गया ।

कुछ लोगों ने यह सुझाव दिया कि भारतीय भाषा (बंगला) को शिक्षा और परीक्षा दोनों का अनिवार्य माध्यम बना दिया जाए । वे यह नहीं चाहते थे कि अंग्रेजी और बंगला दोनों को साथ-साथ माध्यम माना जाए क्योंकि यदि अंग्रेजी और बंगला दोनों को माना गया तो दोनों ऐच्छिक रहेंगी और यदि बंगला को केवल ऐच्छिक रूप में माध्यम माना गया तो अंग्रेजी को छोड़कर बंगला कोई नहीं लेगा । बंगला-अनिवार्यता के इस सुझाव के प्रत्युत्तर में कमिशन ने कहा कि हम इस सुझाव को मानकर इस हद तक परिवर्तन के पक्ष में नहीं हैं । हम किसी को भी बंगला माध्यम के लिए मजबूर नहीं कर सकते । यदि बंगला माध्यम को अनिवार्य बनाया गया तो मुसलमान वर्ग की ओर से इस अनिवार्यता के विरोध की संभावना है । हमारे विचारानुसार यदि ऐसी अनिवार्यता कभी आनी ही है तो आहिस्ता-आहिस्ता आनी चाहिए ।[2] शिक्षा, शिक्षा-दर्शन और शिक्षा-नीति सब वर्गनिष्ठ राजनीति के रंग में रंगे गए । इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय भाषा के पक्ष में कोई परिवर्तन होना भी है तो तब संभव होगा जब शत-प्रतिशत उसका समर्थन होगा और विरोध जीरो प्रतिशत । ऐसी संभावना हो सकती है या नहीं यह तो सोचने का विषय हो सकता है, किंतु किसी भी स्थिति को बनाए रखने का और परिवर्तन को रोकने का यह मूलमंत्र अवश्य है ।

शिक्षा राजनीति में अब शत-प्रतिशत परिवर्तन हो गया । प्रारंभ से तो इस विशाल भारतीय जन-समुदाय को किसी ने सार्थक समझा ही नहीं था । ग्रांट समझते थे कि भारतीयों को तो हमने जीता है इसलिए उनके भले-बुरे का फैसला करने वाले वे होते कौन हैं ? उनके विरोध की चिंता क्या ? शिक्षा समिति के अध्यक्ष पद पर आसीन लार्ड मकाले भारतीय जनता और परंपरा दोनों

1. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 241
2. वही, पृ० 33-34

को निरर्थक मानते थे। 1857 के विजयोपरांत 1858 में जान लारेंस ने घोषणा की थी कि हम यहां न चुनाव से आए हैं, न लोगों के बुलाने पर आए हैं, हम तो अपनी नैतिक प्रवरता, परिस्थितियों की प्रबलता और नियति की इच्छा से यहां आए हैं। हमारे राज का यही आधार है और यही अधिकार है। जनता के भले के लिए हम जो कुछ भी करेंगे अपनी इच्छा से करेंगे; उनकी इच्छा से नहीं।[3] लार्ड कर्ज़न तो किसी की सुनने को तैयार थे ही नहीं। सर हारकोर्ट बटलर ने पं० मदन मोहन मालवीय का प्रस्ताव नहीं माना था और प्रश्न पर विचारार्थ केंद्रीय समिति नहीं बनाई थी क्योंकि प्रश्न अखिल भारतीय बन चुका था। अखिल भारतीय स्तर पर मित्रभेद और शब्दभेद दोनों संपन्न हो चुके थे। इस स्थिति के पक जाने पर जब इसको बदलने का प्रश्न उठाया गया तो निर्विरोध जनमत को ढूंढ़ा गया। वह कहां और कैसे मिलता ? जनमत के स्थान पर राजमत और राजमत के स्थान पर जनमत, यह अंग्रेजी कूटनीति की पराकाष्ठा ही थी। शिक्षानीति नई राजनीति का अंग बन गई थी। जनता के आंदोलन का उत्तर भी जनता के माध्यम से ही दिया जा रहा था। एक ही नीति से राजसेवा और जनसेवा दोनों काम सिद्ध हो रहे थे।

नीति के इस राजगणमत के संदर्भ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन की कार्यवाही में हमें दो रंग दिखाई देते हैं : एक सत्त्वशील और दूसरा राजनिष्ठ; एक तो शिक्षा सिद्धांत और मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरा उतरने वाला और दूसरा राजनीति की मजबूरियों में जकड़ा हुआ।

कमिशन ने शिक्षा के उद्देश्य और अपेक्षित शिक्षा पद्धति के लक्ष्य को दुहराया। उन्होंने माना कि शिक्षा के दो उद्देश्य हैं : 1. मानसिक विकास, 2. अंग्रेजी भाषा का यथेष्ट ज्ञान। किंतु एक बात साफ कर दी गई : शिक्षा और भाषा दो बातें हैं, एक नहीं। भाषा साधन है और शिक्षा साध्य। यदि अंग्रेजी भाषा की योग्यता मात्र को शिक्षा समझ लिया गया तो ठीक नहीं रहेगा।[4]

अभी तो अधिकतर लोग अंग्रेजी भाषा की योग्यता को ही शिक्षा मानते चले आए थे। इसी कारण इस बात पर बल दिया जाता रहा था कि शीघ्रातिशीघ्र अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम लागू कर दिया जाए कि ताकि बच्चे अधिक से अधिक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग कर सकें, क्योंकि जितना अंग्रेजी भाषा का प्रयोग अधिक होगा उतना ही अंग्रेजी का ज्ञान अधिक होगा और जितनी अंग्रेजी की योग्यता अधिक होगी उतनी ही बच्चों की शिक्षा अच्छी हो जाएगी। कमिशन ने इस क्रम को बदल दिया : उन्होंने कहा कि अंग्रेजी की योग्यता से शिक्षा अर्थात् मानसिक विकास नहीं होता, बल्कि मानसिक विकास से अंग्रेजी की योग्यता बढ़ती है। अंग्रेजी भाषा की योग्यता अच्छी शिक्षा का कारण नहीं है, भाषा योग्यता अच्छी शिक्षा का परिणाम है। कमिशन ने यहां तक कह दिया कि अच्छी शिक्षा और अंग्रेजी भाषा (शब्दज्ञान) इन दो में से यदि एक को ही चुनना है तो हम अच्छी शिक्षा को चुनेंगे, मात्र शब्दज्ञान को नहीं।[5]

3. पत्र दि० 3-7-1858, उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 176-77
4. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 37-38, 48
5. वही, पृ० 32

कमिशन ने यह नोट किया कि मात्र अंग्रेजी शब्दज्ञान पर आवश्यकता से अधिक बल दिए जाने के कारण बच्चे न तो शिक्षा प्राप्त कर सके थे और न भाषाज्ञान ही। परीक्षा पास करने के लिए उनको पृष्ठ पर पृष्ठ जुबानी घोटने पड़ते थे ताकि वे उन्हें परीक्षा में ज्यों के त्यों उगल दें। अंत में उन्हें यदि थोड़ी बहुत अंग्रेजी आ भी गई तो भी उसके लिए कितना समय और शक्ति बर्बाद करके।[6] इस दुखद अपव्यय को देखकर कमिशन को हंसी भी आई और रोना भी। कमिशन ने यह भी नोट किया कि साधारण विद्यार्थी को न अंग्रेजी आती थी और न ही अपनी मातृभाषा, मानसिक विकास का तो कहना ही क्या ? उन्होंने कहा कि भारतीय शिक्षा पद्धति में कोई आधारभूत कमी है जिसके कारण विद्यार्थी शिक्षा, अंग्रेजी भाषा और मातृभाषा तीनों ही में कोरे हैं। इंग्लैंड में किसी विद्यार्थी की शिक्षा को तब तक पूर्ण नहीं समझा जाता जब तक कि वह अपनी भाषा पर व्याकरण और शैली दोनों की दृष्टि से पूर्ण अधिकार न प्राप्त कर ले।[7] भारत में शिक्षा और भाषाज्ञान दोनों ही तोता रटंत से आगे नहीं जा पा रहे थे। ये सब सात्त्विक सच्चे विचार थे।

शिक्षा में यदि मात्र शब्दज्ञान की अपेक्षा मानसिक विकास अधिक और वास्तविक महत्त्व रखता है तो मानसिक विकास अर्थात् शिक्षा का स्वाभाविक माध्यम क्या है ? कमिशन ने सत्य सरस्वती के शब्दों में इस प्रश्न का भी उत्तर दिया : मानसिक विकास का स्वाभाविक माध्यम है मातृभाषा, क्योंकि मातृभाषा ही विचार का माध्यम है।[8] उन्होंने अंग्रेजी भाषा-भाषी इंग्लैंड के विद्यार्थियों का उदाहरण देकर यह भी कहा कि अंग्रेज विद्यार्थी यदि विदेशी यूनिवर्सिटी में पढ़े तो वह जर्मन या फ्रांसीसी भाषा में दिए गए लेक्चरों के नोट अंग्रेजी में ले सकता है। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भारत में यह संभव क्यों नहीं था।[9] उन्होंने स्थिति को जांचते हुए यह कहा कि भारत में स्कूल पद्धति के अंदर मातृभाषा ही मानसिक विकास का साधन है किंतु उसकी ओर कोई ध्यान दिया ही नहीं गया है। इसका कारण यही है कि उचित समय से पहले ही अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम लागू कर दिया जाता है। विदेशी भाषा होने के कारण विद्यार्थी उसे समझते नहीं और न समझने के कारण साधारण विषयों में उनके मन में एक गलदल-सी मच जाती है। इस गलदल का पता मैट्रिक परीक्षा में तो नहीं चल पाता क्योंकि बच्चे पन्ने पर पन्ने घोटने में कमाल कर दिखाते हैं, किंतु जैसे ही वे कालेज में पहुंचते हैं इस घोटाले का पता चल जाता है। न केवल अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने वाले विद्यार्थियों के विषय में ही मातृभाषा की अवहेलना की जाती थी, अपितु जो विद्यार्थी मातृभाषा के माध्यम से पढ़े थे उनके मानसिक विकासार्थ भी मातृभाषा का पूरा प्रयोग नहीं किया जा रहा था।[10] मातृभाषा की अवहेलना और अंग्रेजी माध्यम के समय से पूर्व लागू किए जाने के कारण भारतीय विद्यार्थी शिक्षा-विहीन हो गए थे और भाषा-विहीन भी।

6. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 33, 28
7. वही, V, पृ० 59-60
8. वही, V, पृ० 331, 29-30
9. वही, V, पृ० 59-60
10. वही, V, पृ० 29-30

मातृभाषा मानसिक विकास का स्वाभाविक साधन है, यह सभी ब्रिटिश प्रशासक और शिक्षाशास्त्री मानते थे । किंतु फिर भी भारतीय भाषाओं के विकास की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया । और इसी अवहेलना के कारण भारत में शिक्षा का स्तर इतना नीचे गिर गया था । सिद्धांत रूप में तो मकाले के समय से भारतीय भाषाओं के गंभीर अध्ययन और योजनाबद्ध विकास के महत्त्व पर बल दिया गया किंतु फिर भी शिक्षा-नीति में तथा स्कूलों, कालेजों और विद्यार्थियों में उनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया था । और जो भी अध्ययन मातृभाषा का शिक्षा संस्थानों में किया जा रहा था वह भी अपर्याप्त और नीचे स्तर का था, मानो नाममात्र का ही था । परिणामस्वरूप मानसिक विकास का स्वाभाविक साधन तो विकसित हुआ नहीं और विदेशी माध्यम सफल नहीं हुआ ।[11] इस विफलता को देखने के बाद कमिशन ने एक ऐसा सुझाव दिया जो आज भी बहुमूल्य है और जिसने पहले के सारे विचारों को नकार दिया । प्रारंभ से समझा यह गया था कि मातृभाषा का अध्ययन अंग्रेजी के अध्ययन के रास्ते में रुकावट बनेगा । इसी कारण केवल अंग्रेजी के अध्ययन पर बल दिया जा रहा था । कमिशन ने यह सुझाव दिया कि मातृभाषा का अध्ययन अंग्रेजी के अध्ययन के रास्ते में रुकावट होने की बजाय अंग्रेजी की सहायता करेगा । यह तो हो सकता है कि यदि अंग्रेजी देर में शुरू की जाए तो अंग्रेजी शब्द थोड़ी देर में जुबान पर चढ़ेंगे किंतु उनकी समझ जल्दी आने लगेगी ।[12] इस प्रकार भारतीय भाषा और अंग्रेजी का संबंध स्पर्धात्मक नहीं बल्कि परस्पर सहयोग का होगा । शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय और अंग्रेजी भाषा का क्रमबद्ध अध्ययन होना चाहिए, यह विचार दो भाषाओं के क्रमानुगत अध्ययन का था जिससे आशा यह थी कि भाषाज्ञान का विकास और मानसिक विकास साथ-साथ होंगे । अंग्रेजी के शब्द जंजाल के बीच तोता रटंत में उलझे हुए विद्यार्थियों के लिए यह सुझाव आशा का संदेश था और सत्य सरस्वती की वाणी का ही मानवीय रूप था, यदि कार्यान्वित हो जाता तो । कमिशन का ठोस सुझाव यह भी था कि अंग्रेजी का अध्ययन प्रारंभ करने से पहले विद्यार्थियों को मातृभाषा में संयत और कठोर ट्रेनिंग मिलनी चाहिए क्योंकि यह ट्रेनिंग अंग्रेजी शिक्षा का आवश्यक और अनिवार्य पूर्वार्द्ध है ।[13] लार्ड कर्ज़न ने भी कहा था कि जो अपनी मातृभाषा को नहीं जानता वह अंग्रेजी भी नहीं जान सकता ।

यदि मातृभाषा का संयत अध्ययन शिक्षा का पूर्वांग माना जाए ताकि वह विद्यार्थी के मानसिक विकास का साधन भी हो और उस विकास का मानक और सहायक भी, तो उस अध्ययन का योजनाबद्ध कार्यक्रम होना चाहिए । वह क्या हो ?

कमिशन ने इस विषय में जो विचार दिए और जिस योजना की कल्पना की वह आज भी सराहनीय और अनुकरणीय है । उन्होंने भाषा की उपलब्धि के क्रम को दो भागों में बांटा :

1. प्राकृत अर्थात् प्रकृति और परिवेश से प्राप्त ।
2. आनुशासनिक अर्थात् शिक्षा-प्रक्रिया से अर्जित ।

11. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 331
12, 13. वही, V, पृ० 32

शिक्षा से अर्जित भाषाज्ञान को आगे दो-तीन भागों में बांटा :

क. अनुकरणात्मक

ख. सर्जनात्मक : (i) व्यक्तिगत विशिष्टतापरक, (ii) आत्म-दर्शनपरक ।

शिक्षा-प्रक्रिया में स्वाध्याय, प्रवचन, मनन और निदिध्यासन (सेल्फ-क्रिटिसिज्म)—ये तीनों साधना विशेष के अंग हैं ।

प्राकृत अवस्था में बच्चे को केवल इतनी भाषा की उपलब्धि होती है जितनी उसको अपनी साधारण आवश्यकताओं को दूसरों के प्रति व्यक्त करने के लिए आवश्यक है अथवा दूसरों की आवश्यकताओं को समझने के लिए पर्याप्त है । ये सारी आवश्यकताएं उसकी अपनी मातृभाषा में ही व्यक्त की जाती हैं । इतनी भाषा उसे अनायास ही मिल जाती है जिसके लिए न्यूनतम ध्यान और इच्छाशक्ति की आवश्यकता होती है । परंतु किसी भी व्यवस्थित समाज में बुद्धि के विशेष प्रयास के बिना काम चलाने के लिए यह भाषा-उपलब्धि भी न्यूनतम है (अर्थात् इतने ही भाषाज्ञान के सहारे व्यक्ति समाज में कोई उन्नति नहीं कर सकता) । यदि उससे समाज में कुछ और करने की अपेक्षा की जाती है तो उसे इससे आगे कुछ और सीखना पड़ेगा ।[14] यहां हमें डब्ल्यू० एच० शार्प की बात याद आती है जो उन्होंने लार्ड कर्ज़न के समय कही थी । प्रारंभिक ग्रामीण शिक्षा के संबंध में उन्होंने कहा था कि यह शिक्षा भारती माध्यम से दी जाएगी और इसका लक्ष्य मात्र इतना होगा कि विद्यार्थी अपने परिवेश को देख ले, समझ ले और उससे अधिकतम लाभ भी उठा ले, किंतु उसे बदलने का प्रयास न करे । भारतीय माध्यम से शिक्षित इन नौजवानों से केवल यही अपेक्षा की जाती थी कि वे देहाती जीवन में मात्र प्राकृत स्तर पर जिएंगे और ब्रिटिश साम्राज्य के गुण गाएंगे । किंतु यह कमिशन उस स्थिति से आगे बढ़ा और कम से कम इस संभावना की कल्पना तो की कि यदि बच्चों से प्राकृत स्तर से ऊपर कोई अपेक्षा की जाएगी तो उनका भाषा-स्तर भी प्राकृत स्तर से ऊंचा करना पड़ेगा ।

कमिशन की इच्छा थी और उसने सुझाव भी दिया कि मातृभाषा के अध्ययन को जीवन के अनुरूप आगे बढ़ाया जाए । उन्होंने भाषा के अध्ययन को जीवन-शैली से जोड़ने का सुझाव दिया । उन्होंने कहा कि हमारी जीवनचर्या दो प्रकार की होती है अथवा दो स्तरों पर संपन्न की जाती है : एक तो यह कि किसी माडल का अनुकरण करना और दूसरे लोगों की तरह काम करना, और दूसरा यह कि हम अपनी शैली से सोचें और स्वांतःसुखाय काम करें । हमारी व्यक्तिगत विशेषता ही इस दूसरे स्तर के काम का महत्त्व है । क्रियाक्षेत्र, कोई-सा भी हो—चिंतन, कला अथवा शिल्प—वह व्यक्तिगत विशिष्टता वास्तविक और सुस्पष्ट तभी होगी जबकि अभिव्यक्ति के माध्यम पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किया जा चुका हो । माध्यम केवल एक है : मातृभाषा । मनुष्य बचपन से ही मातृभाषा पर अधिकार प्राप्त करना शुरू करता है । प्रथम, इसी भाषा पर तकनीकी अधिकार प्राप्त किया जा सकता है । इसी भाषा में प्रथम व्यक्तिगत विशिष्टता

14. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 30

अभिलक्षित होती है और तत्पश्चात् समुन्नत होती है ।[15]

कमिशन ने दोनों प्रकार की शैली (अर्थात् अनुकरणात्मक और सर्जनात्मक) को साधिकार प्राप्त करने का उपाय भी सुझाया । कमिशन ने कहा : सभी स्कूलों में विद्यार्थी एक माडल का अनुकरण करें । प्राध्यापक उस माडल की व्याख्या करें, यह आवश्यक है । मातृभाषा में यदि समझदारी से शिक्षा दी जाए तो असाधारण और साधारण सभी विद्यार्थियों को सिखाया जा सकता है कि माडल का चयन कैसे करें, और उनका अनुकरण कैसे करें ? मातृभाषा के प्रशिक्षण के दौरान आवश्यक है कि विद्यार्थी सुगम और सुपरिचित विषयों पर अपने निजी अनुभव के आधार पर लिखें । ये विषय ऐसे हों जिनके बारे में विद्यार्थी (अपने निजी अनुभव के कारण) अध्यापक तथा अपने सहपाठियों से अधिक जानता हो और उसी विषय-विशेष की वह अपने साथियों के सामने व्याख्या भी करे । इस प्रकार के प्रशिक्षण और अभ्यास से न केवल उसे प्रखर और सुनियोजित अभिव्यक्ति कला की ही ट्रेनिंग दी जा सकती है अपितु स्वयं-समालोचना और बौद्धिक निष्ठा की ओर भी अग्रसर किया जा सकता है । ऐसी ट्रेनिंग के बाद विद्यार्थी स्वयं से पूछे—'यह नहीं कि मेरे अध्यापक प्रसन्न हुए कि नहीं, बल्कि यह कि यह लेख मेरे अपने आदर्श के अनुरूप है या नहीं ।' और यह अपना आदर्श भी इतना ऊंचा हो जो अपने लिए ही एक चुनौती हो । इस प्रकार का शिक्षण आसान तो नहीं है क्योंकि अध्यापकों की ट्रेनिंग दूसरी पद्धति (अर्थात् अंग्रेजी पद्धति) से हुई है किंतु ट्रेनिंग कालेजों के द्वारा अध्यापकों को तैयार करके एक नई परंपरा का शुभारंभ किया जा सकता है और अवश्यमेव किया जाना चाहिए । यदि विद्यार्थियों को इस प्रकार की उत्कृष्ट शैली का अभ्यास हो तो उनकी विवेचन और विवेक शक्ति जागृत हो जाती है । फिर छपी हुई सामग्री उन पर जादू नहीं कर पाती क्योंकि उन्हें स्वयं असली और नकली का पता है, वे वास्तविक विषय और शैली को समझते हैं, विचार की भ्रांति और व्यवस्थिति को समझते हैं । अपने ही लेख के गुण और दोषों को समझने की क्षमता रखने के कारण वे दूसरे के लेखों के गुण और दोषों को भी समझ सकते हैं ।

कमिशन के सदस्यों को मालूम था कि बंगाली समाज चेतना और परंपरा की दृष्टि से भाषा और शैली-प्रेमी समाज था । किंतु उनके लिए यह खेद का विषय था कि फिर भी स्कूल शिक्षा में बंगाली या अंग्रेजी के वैज्ञानिक अध्ययन को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा था । इस बात का कोई संकेत भी नहीं मिल रहा था । कमिशन के मतानुसार वैज्ञानिक अध्ययन का अर्थ न केवल व्याकरण का अध्ययन था बल्कि शब्द-रचना, निबंध-रचना, शब्द-विन्यास, अर्थ-विज्ञान और शब्दार्थ-विकास का अध्ययन भी था । कमिशन का विचार था कि स्कूल के अध्यापकों को इन विषयों का ज्ञान होना चाहिए और ऊंची श्रेणियों में अधिकाधिक इनका प्रयोग होना चाहिए । कमिशन के प्रस्ताव के सत्तर वर्ष बाद भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन की आज की स्थिति को भी यदि हम देखें तो यही कहना होगा कि यह ऊंची उड़ान थी । मैट्रिक, इंटरमीडिएट या बी०ए० में आज भी इस स्तर की शिक्षा नहीं दी जा रही है । किंतु कमिशन

15. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 29-31

ने बलपूर्वक यह कहा कि इसमें कोई विवाद है ही नहीं कि सेकंडरी स्कूलों, इंटरमीडिएट कालेजों और यूनिवर्सिटी में भारतीय भाषा के गंभीर अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम होना चाहिए । कुछ समय पूर्व ही कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन की एम०ए० स्तरीय योजना बनाई थी । कमिशन ने उसकी सराहना की किंतु साथ में यह भी कह दिया कि यह योजना तो भवन का कलश है, भवन तो अभी बनना है जिसकी बुनियाद भी पक्की होनी चाहिए । जब बुनियाद, भवन और कलश तीनों पक्के और सुंदर होंगे तभी बंगाल को अपनी प्रतिभा, सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप साहित्य मिल पाएगा ।[16] इसी कल्पना और योजना के अनुरूप कमिशन ने यह सुझाव दिया कि भारतीय भाषा अध्यापकों को भाषा के इतिहास, व्याकरण और अर्थ-विज्ञान में उचित ट्रेनिंग मिलनी चाहिए । यह भी सुझाव दिया गया कि जिन विषयों में स्कूल स्तर पर शिक्षा-माध्यम और परीक्षा-माध्यम ऐच्छिक है, अर्थात् अनिवार्य अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषा (बंगला) अथवा अंग्रेजी—उन विषयों में विद्यार्थी अपने चुनाव के अनुसार इनमें से किसी भी एक भाषा में लेक्चर-नोट्स ले लें ।

कमिशन के ये सारे विचार, मान्यताएं, टिप्पणियां इत्यादि शिक्षा सिद्धांत, मनोविज्ञान, मन, बुद्धि, व्यक्ति और समाज सभी के नैसर्गिक संबंध के अनुसार थे । कमिशन को अपने विचारों में ऐसा दृढ़ विश्वास था कि उन्होंने पूर्ववत् भारतीय भाषा की अवहेलना को देखकर सरकार और यूनिवर्सिटी पर भी टिप्पणियां कर दीं । उन्होंने जो देखा और जो टिप्पणियां दीं उनका सारांश इस प्रकार है :

1. **मैट्रिक परीक्षा :** विश्वविद्यालय के नियमानुसार भारतीय भाषा में प्रत्येक विद्यार्थी को निबंध-रचना की परीक्षा देनी होगी । इस संबंध में सिंडीकेट को यह काम सौंपा गया था कि बोर्ड आफ स्टडीज की सिफारिश के अनुसार कुछ उच्चस्तरीय पुस्तकें जो छः से अधिक न हों, आदर्श रूप में पढ़ने के लिए कोर्स में लगा दें । नियम तो अच्छा था किंतु इसको एक और नियम के कारण नकार दिया गया तो उन्हें पढ़ता कौन, और क्यों ?
2. **इंटरमीडिएट :** मैट्रिक सरीखे नियम ही इंटरमीडिएट परीक्षा के लिए बनाए हुए थे ।
3. **बी०ए० :** बी०ए० संबंधी नियमों में थोड़ा अंतर था । नियम यह था कि परीक्षा में विद्यार्थियों को पाठ्य पुस्तकों के विषय-वस्तु और निबंध-रचना शैली दोनों पर प्रश्नों के उत्तर देने होंगे, किंतु यह नियम भी एक दूसरे नियम से कट गया । कालेजों में अध्ययन-अध्यापन संबंधी नियम यह था कि भारतीय भाषा विषय पर लेक्चर नहीं दिए जाएंगे । देखना यह है कि प्रवचन ही यदि रोक दिया तो स्वाध्याय अकेला क्या करेगा और कौन करेगा ?

इन नियमों को देखकर कमिशन को यह कहना पड़ा कि यदि स्कूल और कालेजों में

16. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 59-60

विद्यार्थी भारतीय भाषा के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं देते तो यह कोई आश्चर्य की बत नहीं है। सरकार और विश्वविद्यालय दोनों की भारतीय भाषा-नीति की यह कड़ी आलोचना थी जिससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि कमिशन की अपनी प्रस्तावना तो विशेष रूप से सशक्त होगी, क्योंकि सिद्धांत रूप में कमिशन सब कुछ सही कह रहा था।

बस यहीं पहुंचकर निशाना लक्ष्य से चूक गया। क्रियात्मक स्तर पर आते ही सत्य सरस्वती को राजसरस्वती में परिणत कर दिया गया। राजरंग में रंगने के बाद सत्त्व-प्रकाश भी धूमिल हो जाता है। अंग्रेजी की छाया से कमिशन भी नहीं बच पाया, विद्यार्थी तो बचते कैसे ? कमिशन की सिफारिश इस प्रकार थी :

1. **मैट्रिकुलेशन** : अंग्रेजी का अतिशय प्रयोग रोक दिया जाना चाहिए। हमारा यह विचार है कि संभवतः यही अच्छा होगा कि नियम से सारे ही सेकंडरी स्कूलों में अंग्रेजी और गणित को छोड़कर शेष सभी विषयों में भारतीय भाषा माध्यम हो। अंग्रेजी विषय में जितना शीघ्र संभव हो सके अंग्रेजी ही माध्यम हो। यदि अंग्रेजी शिक्षण के लिए डायरेक्ट मैथड का प्रयोग किया जाए तो अंग्रेजी माध्यम अपने आप ही आसानी से आ जाएगा। डायरेक्ट मैथड संभव होगा या नहीं, यह सुयोग्य अध्यापकों की समुपलब्धि पर निर्भर करेगा। गणित के संबंध में हमारा विचार है कि ऊपर की चार कक्षाओं में अंग्रेजी माध्यम हो, सातवीं से प्रारंभ करके आहिस्ता-आहिस्ता केवल अंग्रेजी ही माध्यम रहे। हां, जहां भी अध्यापक को आवश्यकता दीखे वहां-वहां वह भारतीय भाषा में भी विषय की व्याख्या करे। अंग्रेजी माध्यम की सहायतार्थ भारतीय भाषा के प्रयोग पर कोई प्रतिबंध न हो। गणित के लिए अंग्रेजी माध्यम की आवश्यकता है, इसलिए नहीं कि विद्यार्थी गणित के माध्यम से अंग्रेजी सीखें बल्कि इसलिए है कि वे टेक्नीकल टर्म्स का सीधा और अनायास प्रयोग सीख जाएं जिसकी आवश्यकता उन्हें आगे चलकर पड़ेगी। परीक्षा में अंग्रेजी और गणित को छोड़कर शेष सभी विषयों में परीक्षार्थियों को छूट होनी चाहिए कि वे अपने उत्तर अंग्रेजी में लिखें चाहे भारतीय भाषा में।
2. **इंटरमीडिएट** : इंटरमीडिएट परीक्षा अंतिम भी होगी और विश्वविद्यालय में प्रवेशार्थ (एंट्रेंस) भी होगी क्योंकि बहुत सारे विद्यार्थी इंटरमीडिएट परीक्षा के पश्चात् वाणिज्य, उद्योग, अध्यापन इत्यादि कामों में निकल जाएंगे। इंटरमीडिएट स्तर पर माध्यम अंग्रेजी ही रहना चाहिए। हम इस स्तर पर मातृभाषा के अध्ययन को जारी रखने के मार्मिक महत्त्व को समझते हैं। किंतु मुसलमानों के विचारों की आज की स्थिति को देखते हुए इस बात पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि बंगला-भाषी मुसलमान विद्यार्थी बंगला के स्थान पर उर्दू ले लें—यदि ऐसा करने में कोई अनिवार्यता न हो तो।
3. **बी०ए०** : सभी विषयों के लिए अंग्रेजी माध्यम होना चाहिए, केवल ऐसी भाषाओं

को छोड़कर जैसे संस्कृत, पालि और भारतीय भाषाएं। संस्कृत इत्यादि विषयों में भी भारत के दूसरे भागों से आने वाले विद्यार्थियों के लिए एवं पश्चिम से आने वालों के लिए भी माध्यम अंग्रेजी ही होना चाहिए।

अंग्रेजी पढ़ाने के लिए फोनेटिक मैथड (अर्थात् उच्चरित रूप, लिखित के स्थान पर) का सुझाव दिया गया और इंटरमीडिएट और बी०ए० स्तर पर मौखिक परीक्षा का सुझाव भी दिया गया। इसके अतिरिक्त साहित्यिक अंग्रेजी और व्यावहारिक अंग्रेजी में अंतर समझकर उचित शैली से यथावश्यकता उसका अध्यापन करना चाहिए।[17]

इन सारे सुझावों के साथ-साथ और बंगला-भाषी लोगों के साहित्यिक स्वभाव को ध्यान में रखकर कमिशन ने यह सुझाव दिया कि बंगाल में द्विभाषी शिक्षा होनी चाहिए अर्थात् बंगला (भारती) और अंग्रेजी दोनों में मातृभाषा उन सुंदर और मधुर वस्तुओं के लिए जो बचपन से ही जीवन का अंग बनती हैं और काव्य और राष्ट्रीय भावना का प्राण और विषय-वस्तु बनती हैं, और अंग्रेजी साइंस, स्कालरशिप, और अंतर्देशीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संपर्क और संचार के लिए। दोनों भाषाओं का अध्ययन क्रमानुसार होना चाहिए। अर्थात् स्कूल स्तर पर भारती (बंगला) और कालेज और विश्वविद्यालय स्तर पर अंग्रेजी का।[18]

भारतीय भाषा का विकास, मातृभाषा माध्यम से मानसिक विकास तथा इन्हीं के अनुरूप शिक्षा-माध्यम, इन विषयों पर कमिशन ने जो विचार, सुझाव या प्रस्ताव रखे उनसे स्थिति कितनी सुधरी ? वे पहले से कितने आगे चले ? और नहीं चले तो उसके क्या कारण हो सकते थे ?

भारतीय भाषा की वास्तविक स्थिति तो यह थी कि वे केवल पहली छः श्रेणियों में ही शिक्षा-माध्यम हो सकती थी। सातवीं कक्षा से अंग्रेजी और गणित में तो अंग्रेजी माध्यम होना ही था। और अंग्रेजी और गणित के अतिरिक्त अन्य विषयों में भारती/अंग्रेजी माध्यम परीक्षा के लिए ऐच्छिक था। जिसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षण-माध्यम भी ऐच्छिक था। भारती माध्यम के अध्यापक भी मिलने आसान नहीं थे क्योंकि उनकी तो नई ट्रेनिंग की अपेक्षा की गई थी। जो अध्यापक थे वे दूसरी परंपरा अर्थात् अंग्रेजी परंपरा में बने थे। एक और विशेष बात यह थी कि यदि ये अध्यापक अंग्रेजी में पढ़ाते तो विद्यार्थी अपने नोट्स भारती (बंगला) में ले सकते थे, इस कारण वे यह नहीं कह सकते थे कि हमें बंगला में ही पढ़ाया जाए। और यदि कोई कहता भी कि बंगला में पढ़ाया जाए तो अंग्रेजी अथवा उर्दू की मांग करने वाले बहुत थे। इस खेंचातानी का परिणाम यही निकला कि माध्यम सातवीं से ऊपर अंग्रेजी ही रहा। ऐसा भी कोई नियम नहीं था कि छः श्रेणी तक भी भारतीय माध्यम आवश्यक हो। हम देख ही चुके हैं कि शिक्षकों, शिक्षाशास्त्रियों और अफसरों का मत तो यही था कि जितनी जल्दी हो सके अंग्रेजी प्रारंभ कर दी जाए। इन परिस्थितियों में अंग्रेजी और केवल अंग्रेजी जहां और जैसे भी थी वहीं और वैसे ही रही।

17. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, भाग 2, पृ० 344-45
18. वही, V, पृ० 27

कमिशन की सारी बातों पर ध्यान देने से यह भी पता चलता है कि उन्होंने भारती के पक्ष में जो भी बातें कहीं उनके लिए भी उन्हें सफाई देनी पड़ी। कमिशन का मत तो यह था कि भारती (बंगला) और अंग्रेजी भाषा में कोई विरोध नहीं किंतु उनकी सफाई को देखते हुए ऐसा लगता है कि वे सामयिक पालिटिक्स के दबाव में आकर ऐसा मानने ही लगे कि दोनों में विरोध है और विरोध की स्थिति में अंग्रेजी को बचाना आवश्यक है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि कमिशन ने गणितेतर विषयों में अंग्रेजी को अनिवार्य परीक्षा-माध्यम बनाने से इनकार कर दिया था। किंतु इससे आगे जाकर कमिशन को यह कहना पड़ा कि भारती माध्यम के बावजूद अंग्रेजी के अध्ययन को कोई क्षति नहीं पहुंचेगी। कमिशन ने लिखा कि अंग्रेजी और गणित का माध्यम तो अंग्रेजी ही है। स्कूल समय के पांच-छः घंटों में से आधे समय में तो अंग्रेजी और गणित ही पढ़ाए जाते हैं। इसलिए स्कूल के आधे समय में तो अंग्रेजी ही प्रयोग की जाएगी। इस प्रकार जो भी परिवर्तन हमने प्रस्तावित किया है वह ऐसा आत्यंतिक नहीं है कि स्थिति उलट-पुलट ही हो जाए।[19] अन्य विषयों में भी पढ़ाया तो अंग्रेजी में ही जा रहा था। छूट थी तो नोट लेने की और परीक्षा-माध्यम की। वहां इस छूट का कोई लाभ था नहीं।

कमिशन ने यह सिफारिश की थी कि अध्यापकों को भारती माध्यम से पढ़ाने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए, विशेषकर उस अवस्था में जबकि अध्यापक यह समझता है कि उसे अंग्रेजी पर अधिकार है और विद्यार्थी उसे ठीक-ठीक समझ पा रहे हैं।[20] क्योंकि अध्यापक अंग्रेजी परंपरा में ही तैयार हुए थे और अंग्रेजी प्रतिष्ठा-सूचक होने के कारण अधिकतम अपनाई जा रही थी, अंग्रेजी को छोड़कर मिली-जुली भारतीय भाषा में कोई भी पढ़ाने को तैयार नहीं होता था। इसके अतिरिक्त कमिशन ने एक परामर्शदाता के मत की ओर ध्यान दिलाते हुए यह प्रस्ताव किया कि यदि शिक्षण भारती (बंगला) माध्यम से हो रहा हो तो भी अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तकें प्रयोग की जाएं क्योंकि एक ही विषय पर दो पाठ्य-पुस्तकें, एक भारती (बंगला) में और दूसरी अंग्रेजी में, विद्यार्थी की सहायता करेंगी।[21] इस प्रकार भारती माध्यम, अध्यापकों और पुस्तकों को अंग्रेजी के साथ खुली प्रतियोगिता में डाल दिया गया। राजभाषा के सामने जनभाषा सफल हो नहीं सकती थी। कमिशन ने जो कुछ सिद्धांत रूप में कहा वह क्रियात्मक स्तर पर नकारा गया।

कमिशन ने कुछ दलीलें ऐसी भी दीं जो छोटी और लचर दीखती हैं। उदाहरण के तौर पर हम देखें कि जब उन्होंने गणित के लिए अंग्रेजी माध्यम की सिफारिश की तो कहा कि गणित में अंग्रेजी माध्यम अंग्रेजी भाषा के लिए नहीं बल्कि इसलिए प्रस्तावित किया गया है कि विद्यार्थी टेक्निकल टर्म्ज का प्रयोग सीख जाएं। साथ ही जब उन्होंने अंग्रेजी और भारतीय भाषा में पाठ्य पुस्तकों का प्रस्ताव किया तो यह कहा कि टेक्निकल टर्म्ज केवल अंग्रेजी में ही होंगी। उन्होंने यह भी माना कि यदि शिक्षण भारती में हुआ तो भी अंग्रेजी टर्म्ज का प्रयोग ही करना पड़ेगा। यदि अंग्रेजी की टर्म्ज का प्रयोग ही किया जाना था तो शिक्षण भारती में ही क्यों नहीं हो सकता

19, 20, 21. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 34

था ? अंग्रेजी टर्म्ज को सिखाने के लिए सारे विषय को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने की आवश्यकता नहीं थी, उन्हें भारती माध्यम से भी समझाया जा सकता था। गांव से दिल्ली या कलकत्ता पहुंचने के लिए लंदन जाकर नक्शा देखने की जरूरत क्यों ? इसलिए वास्तविक कारण यही लगता है कि कमिशन अंग्रेजी के प्रयोग को कम नहीं करना चाहता था।

इसके अतिरिक्त यदि हम कमिशन की कथनीय और करणीय बातों की ओर ध्यान दें तो दोनों की शैली का अंतर देखने से पता चलेगा कि कथनी की गंभीरता का अंशमात्र भी उनकी करनी में नहीं आ पाया। शिक्षण और शिक्षा-प्राप्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया, शिक्षा-क्षेत्र में नैसर्गिक और पारंपरिक तथ्यों का महत्त्व, बंगला समाज का मानसिक और सांस्कृतिक जीवन, मातृभाषा का सारस्वत स्वरूप, मातृभाषा और शिक्षा का मनोवैज्ञानिक संबंध, ये सारी बातें तो सराहनीय रहीं। शिक्षा-क्षेत्र में अभी तक चलती आई सरकार की नीति, मातृभाषा की अवहेलना, अंग्रेजी माध्यम का प्राधान्य, इनकी आलोचना, यह भी साहस की बात थी। यह सब जानते-कहते हुए भी जब कुछ करने का समय आया तो कमिशन राजनीति की राजसिक जकड़न में फंस गया और सरस्वती को राजवेश के बंधन में बांधकर शिक्षा और भाषा दोनों को पोलिटिकल रूप दे दिया। शिक्षा और भाषा दोनों का पोलिटिकल रूप तो पहले भी था किंतु पहले तो ऐसा सरकार और साम्राज्य के अंग्रेजी आधार पर था। अब सरकारी और साम्राज्यीय नीति ने ही सामाजिक और भारतीय रूप ले लिया। इसी सामाजिक-राजनीतिक आधार पर शिक्षा 'शिक्षावाद' बन गई और भाषा 'भाषावाद' बन गई। ऐसा न होता तो बंगाल में उर्दू की मांग और बंगला का हिंदू और मुस्लिम-बंगला के रूप में बंटवारा कैसे होता ? हाई स्कूल संबंधी शिक्षाभाषा-नीति से ऊपर इंटरमीडिएट और बी०ए०. में तो स्थिति यथापूर्व ही रही।

कुल मिलाकर कोई अंतर नहीं पड़ा। केवल सामाजिक शक्तियां अंग्रेजी के पक्ष में और भारती के विरोध में औपचारिक रूप से उभर आईं। द्विभाषिक नीति कितनी सफल हो सकती थी यह भी सोचने की बात है। बंगला को केवल स्कूल की पहली छः कक्षाओं तक सीमित कर दिया गया। छठी से ऊपर अंग्रेजी और गणित विषयों में तो अंग्रेजी माध्यम रखा जाना ही था, केवल अन्य विषयों में ऐच्छिक रूप में बंगला हो सकती थी। अध्यापकों को अंग्रेजी में लेक्चर देने की छूट थी। अंग्रेजी के प्रतिपक्ष में बंगला को ऐच्छिक रूप में कौन अपनाता ? स्कूल में अंग्रेजी की ही प्रधानता बनी रही। कालेज और यूनिवर्सिटी में अंग्रेजी माध्यम था ही। तो बंगला या किसी भी भारतीय भाषा का विकास कैसे होता ? स्कूलों में छोटे स्तर पर कहां व्याकरण, कहां भाषा-विकास का इतिहास, कहां अर्थ-विज्ञान और शब्द-विन्यास ? कमिशन की ओर से ये सारी बातें केवल वैचारिक स्तर पर भारतीय विकास और अध्ययन संबंधी विषयों पर शिक्षाशास्त्रियों का पथ-प्रदर्शन करने के लिए तो सराहनीय थीं किंतु इनके कार्यान्वित होने का तो अवसर रहा ही नहीं। वैचारिक स्तर पर तो इन सब बातों की आज भी आवश्यकता है क्योंकि कालेज स्तर पर आज भी साधारण भारतीय भाषाओं का अध्ययन या प्रयोग अंग्रेजी को कोई चुनौती नहीं दे पा रहा। केवल विचारों से उस समय बंगला अथवा किसी और भारतीय भाषा की सेवा नहीं हो

सकती थी । बंगला केवल घर की भाषा या प्राइवेट प्रयोग की भाषा ही बनी रही और स्कूल में केवल प्राकृत स्तर तक सीमित रह गई । अनुकरण और सर्जन दूर ही रह गए ।

अंग्रेजी के अध्ययन के संबंध में एक बात विशेष तौर पर कही गई जो कि प्रारंभ से मानी तो गई थी किंतु इस संबंध में कुछ किया नहीं गया था । साहित्यिक अंग्रेजी को साइंस, उद्योग, वाणिज्य और प्रशासन संबंधी अंग्रेजी से भिन्न महत्त्व दिया गया । यह प्रस्ताव भी किया गया कि शिक्षा-प्रक्रिया में यथावश्यकता साहित्यिक और प्रायोगिक अंग्रेजी को अलग-अलग रखा जाए और पढ़ाया जए । वास्तव में क्लास में ऐसा किया गया या नहीं यह भी देखने की बात है । ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि अंग्रेजी पाठ्यक्रन सभी जगह साहित्य प्रधान ही रहा और आज भी है ।

कमिशन की भारतीय भाषा संबंधी कल्पना और विचारों को वास्तविक रूप क्या दिया गया ? 1924 में इंडियन यूनिवर्सिटीज कान्फ्रेंस हुई । बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर ध्रुव (जो संस्कृत के प्रोफेसर थे) ने विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं के विकास और अध्ययन संबंधी एक प्रस्ताव सम्मेलन के सामने रखा । प्रस्ताव था कि इस सम्मेलन के मत में :

1. मैट्रिक परीक्षा, इंटरमीडिएट परीक्षा (कला तथा साइंस) और बी०ए० तथा बी०एस-सी० परीक्षाओं में किसी एक भारतीय भाषा में निबंध-रचना को अनिवार्य विषय बनाया जाए ।
2. एक भारतीय भाषा और साहित्य को इंटरमीडिएट आर्ट्स, बी०ए० आर्ट्स और एम०ए० आर्ट्स परीक्षाओं में ऐच्छिक विषय के रूप में लागू किया जाए ।

प्रोफेसर ध्रुव ने भारतीय भाषाओं के पक्ष में वही तर्क पेश किया जो कि कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन पेश कर चुका था । प्रोफेसर ध्रुव ने कहा कि भारतीय विद्यार्थियों की शिक्षा भारतीय भाषा के साधिकार अध्ययन के बिना ऐसी रह गई है जैसे ऊसर भूमि । यह स्थिति भारतीय भाषाओं के माध्यम से सुधर सकेगी । इसके अतिरिक्त भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में साहित्यिक और वैज्ञानिक अध्ययन और अनुसंधान का भी बहुत अवसर मिला करेगा । किंतु सम्मेलन के एक सदस्य मिस्टर डी० मैक्फेल ने एक संशोधन पेश किया । उन्होंने कहा कि यूनिवर्सिटी स्तर पर बी०ए० तथा बी०एस-सी० परीक्षाओं में विषय-चयन में विद्यार्थी को स्वतंत्रता होनी चाहिए । उसे कोई भी विषय लेने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए । संशोधन स्वीकार कर लिया गया और स्वतंत्रता सिद्धांत के नए आधार पर भारतीय भाषा फिर पीछे रह गई । मातृभाषा, मानसिक विकास इत्यादि सब बातें धरी रह गईं । शिक्षा-भाषा पालिटिक्स में स्वतंत्रता सिद्धांत और जुड़ गया, एक ऐसा नया सिद्धांत जो प्रत्यक्ष परतंत्रता की मजबूरियों में जकड़ा हुआ था ।

स्कूल स्तर पर अंग्रेजी, विज्ञान और गणित को छोड़कर अन्य विषयों में भारतीय भाषाओं को ऐच्छिक रूप में माध्यम बनाने का सिद्धांत 1921 से लेकर 1937 तक सोलह वर्ष में कहीं-कहीं माना गया । इन मान्यताओं का अध्ययन करने से भी पारस्परिक भाषा-विवाद और

विवादजनित अंग्रेजी भाषा का प्राधान्य ही दीखता है । उदाहरणार्थ, मध्यवर्ती सूबों को ही लें । वहां 1922-23 में सारे सरकारी स्कूलों में भारतीय भाषाओं को अनिवार्य रूप में शिक्षा-माध्यम बना दिया गया और सरकारेतर स्कूलों में ऐच्छिक आधार पर । किंतु वहां पर अल्पसंख्यकों का राजनीतिक प्रश्न खड़ा हो गया । अतः तीन भाषाओं को माध्यम मानना पड़ा—हिंदी, मराठी और उर्दू । किंतु वित्तीय कारणों से तीन भाषाएं नहीं चलाई जा सकीं । अतः यह मांग की गई कि सरकार या तो अल्पसंख्यक भाषा को माध्यम रखे या एक सेक्शन अंग्रेजी माध्यम का अवश्य रखा जाए । अतः साधारण तौर पर इलाके की प्रचलित भाषा को माध्यम बनाया गया किंतु मांग के अनुसार अंग्रेजी सेक्शन भी रखना ही पड़ा । देखना यह है कि राजनीति के आधार पर अल्पसंख्यक भाषा अर्थात् उर्दू का विकल्प हिंदी या मराठी नहीं माना गया, पर अंग्रेजी मान लिया गया ।

उत्तर प्रदेश में इस विषय में जो गतिविधियां हुईं वे रोचक भी थीं और दिशा-निदेशक भी । आज भी उनकी उपयोगिता है । उत्तर प्रदेश में हिंदी और उर्दू दोनों भाषाएं प्रचलित थीं । वहां पर भाषा की अपेक्षा लिपि का प्रश्न अधिक उभरकर सामने आ रहा था । वहां पर शिक्षा विभाग की ओर से एक आदेश जारी किया गया कि शिक्षा-माध्यम के तौर पर ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाए जिसे हिंदी और उर्दू बोलने वाले सभी विद्यार्थी समझ लें । जब इस आदेश को कार्यान्वित किया गया तो लिपि की समस्या आई । अतः श्यामपट्ट पर काम उर्दू और देवनागरी दोनों लिपियों में करना पड़ा अथवा रोमन में करना पड़ा । शिक्षा-निदेशक महोदय की रिपोर्ट के अनुसार उत्तर प्रदेश में एक मिली-जुली जानदार भाषा का उदय होने लगा था जो संस्कृतनिष्ठ हिंदी तथा फारसीनिष्ठ उर्दू से हटकर जनमानस के निकट थी ।[22] देखना यह है कि बंगाल में 'संस्कृतनिष्ठ हिंदू बंगला' और 'फारसीनिष्ठ मुस्लिम बंगला के स्थान पर अंग्रेजी ही खड़ी रही, किंतु उत्तर प्रदेश में एक मिली-जुली भाषा उभरने तो लगी । इसी भाषा को आगे चलकर हिंदुस्तानी का नाम दिया गया—पर वह लिपि सामान्य न होने के कारण हिंदी और उर्दू दोनों का स्थान नहीं ले सकी । ऐसी भाषा पहले खिचड़ी भाषा कहलाती है किंतु आहिस्ता-आहिस्ता मान्य हो जाती है । पर राजनीति और अंग्रेजी के रहते-रहते यह हिंदी-उर्दू समन्वय नहीं हो पाया । वही प्रश्न आज भी खड़ा है । भाषा-राजनीति भी ज्यों की त्यों है ।

मद्रास में 1925 में सरकारी स्कूलों में भारतीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम माना गया पर भाषेतर विषयों में; और 1929 तक करीब 20 प्रतिशत स्कूलों में भारती माध्यम लागू हो गया । 1926 में बंबई में एस०एल०सी० और तत्पश्चात् मैट्रिक में इतिहास और प्राचीन भाषाओं में मराठी, गुजराती, कन्नड, उर्दू और सिंधी को माध्यम बनाया गया, किंतु अधिकतर स्कूल फिर भी 1929 तक अंग्रेजी का ही प्रयोग करते रहे । 1937 में इतिहास, भूगोल और प्राचीन भाषाओं में भारती माध्यम हो गया । बंगाल में 1930 में भाषा विषय में भारती माध्यम

22. डी०पी०आई० की रिपोर्ट (यू०पी०) 1927, पृ० 42, दे० नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 652

माना गया किंतु 1937 तक अंग्रेजी ही चलता रहा । हां, क्लास-रूम में अंग्रेजी और बंगला मिली-जुली भाषा का प्रयोग किया जा रहा था ।[23]

भारतीय भाषाओं के ऐच्छिक रूप में इतिहास, भूगोल तथा भाषा विषयों में शिक्षा-माध्यम मान लिए जाने पर भी मुख्य माध्यम के रूप में अंग्रेजी चलती रही, क्योंकि कारण तो भाषा पॉलिटिक्स के माध्यम से सामाजिक और सरकारी स्तर पर सामने आ ही चुके थे । जिन प्रदेशों में एक से अधिक भाषाएं प्रचलित थीं वहां राजनीतिक, सांप्रदायिक अथवा व्यावसायिक कारणों से अंग्रेजी चलती ही रही । अंग्रेजी और गणित विषय में तो अंग्रेजी माध्यम था ही, औरों में भी भारतीय भाषाओं के साथ-साथ चलता रहा । पुराने कारण भी चलते रहे : भारतीय पाठ्य पुस्तकों, टेक्नीकल टर्म्ज और अध्यापकों की कमी, ये सभी समस्याएं बनी रहीं । यूनिवर्सिटी में शिक्षा-माध्यम था अंग्रेजी, सरकारी नौकरियों के लिए प्रतियोगिता की भाषा भी अंग्रेजी ही थी, और डिग्री जीवन का प्रवेश-द्वार बन चुकी थी । हाई स्कूल परीक्षा ही यूनिवर्सिटी और छोटी नौकरी का खुला द्वार था और अंग्रेजी राजसरस्वती की नई वाणी । राजशिक्षा और राजभाषा दोनों ही राजरथ के साथ चलते रहे । बच्चे और उनके माता-पिता राजमंदिर के सामने कोई भी बलि देने को तैयार खड़े रहे—जिज्ञासा थी केवल राज-प्रतिष्ठा की ।[24]

23. पंचवर्षीय रिव्यू (1932–37), I, पृ० 98
24. वही, पृ० 3

24
प्रकृति और प्रतिशोध

सरस्वती सहज प्रकृति का उदात्त और सांस्कृतिक रूप है । उसकी आराधना न चपलता से हो सकती है, न मात्र वात्सल्य से, न नीति से; केवल विवेक और तपस् साधना से हो सकती है । वह राजवेश में कभी आ ही नहीं सकती । राजवेश खिलवाड़ है और प्रकृति खिलवाड़ को सहन नहीं करती । भारत में अंग्रेजी शिक्षा क्षेत्र में प्रकृति, परंपरा और परिवेश के बीच जनमानस की सहज प्रक्रियाओं के साथ जो खींचतान की गई, प्रकृति को उसका प्रतिशोध तो लेना ही था । इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन (जिसे साइमन कमिशन भी कहा जाता है) ने जब शिक्षा-स्थिति का लेखा-जोखा लिया तो शिक्षा-नीति, साधन, साध्य और उपलब्धियों को देखकर उसे कहना पड़ा : "यदि देश की सामाजिक और आर्थिक परंपरा की सीमाओं के साथ खिलवाड़ करोगे तो प्रमाद के फलस्वरूप प्रतिशोध भी झेलना पड़ेगा ।"[1]

प्रकृति गतिशील है, स्थितिशील भी है, और गति और स्थिति दोनों के संतुलन का नाम व्यवस्थिति है । समाज भी गतिशील और स्थितिशील है और इन दोनों का सामंजस्य ही व्यवस्थिति है । केवल स्थितिशील समाज निष्प्राण हो जाता है । प्रकृति अपना प्रतिशोध लेती है और समाज को नियति या क्रांति में से एक का सामना करना पड़ता है । भारत ने अंग्रेजी राज के रूप में नियति का सामना किया, फ्रांस, रूस और चीन ने क्रांति का । किंतु नियति/क्रांति के पश्चात् व्यवस्थिति की ओर तो आना ही पड़ता है । पाश्चात्य समाज अतिशय गतिशील रहा है । उसे भी प्रतिशोध का सामना करना पड़ा है और वह व्यवस्थिति की खोज में है । यू०एन०ओ० (संयुक्त राष्ट्र संघ) उसी खोज का प्रतीक है । व्यवस्थिति को आगे ले जाना अर्थात् गति और स्थिति का संतुलन रखते हुए आगे चलना ही प्रगति है ।

प्रगति की इस संजीवनशील प्रक्रिया को व्यक्ति के मानसिक स्तर पर उतारें तो प्रगति का सीधा संबंध शिक्षा और भाषा से जुड़ता है । मनुष्य का जीवन मात्र शारीरिक जीवन ही नहीं है, वह मानसिक और बौद्धिक भी है । मन गतिशील है और बुद्धि विवेकशील है । विवेक मन को दिशा और स्थिति दोनों देता है । व्यक्ति का जीवन सामाजिक भी है । समाज को भी गति और विवेक दोनों चाहिए । इन्हीं से समाज को प्रगति प्राप्त होती है अन्यथा उसकी व्यवस्थिति भी

1. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट' (लंदन, हिज मैजस्टीज स्टेशनरी आफिस, 1930), I, पृ० 392